



# प्रेम का चाँद

श्री राजन स्वामी

# प्रेम का चाँद

लेखक

श्री राजन स्वामी

प्रकाशक

श्री प्राणनाथ ज्ञानपीठ

नकुड़ रोड, सरसावा, सहारनपुर, उ.प्र.

[www.spjin.org](http://www.spjin.org)

सर्वाधिकार सुरक्षित

© २००८, श्री प्राणनाथ ज्ञानपीठ ट्रस्ट

पी.डी.एफ. संस्करण — २०१९

## प्राक्कथन

मेरे राज रसिक मेरे श्याम श्यामा, कब आओगे कब आओगे।

मेरे प्राण वल्लभ मेरे प्राण प्रीतम, कब आओगे कब आओगे।।

नीति का कथन है कि "महाजनो येन गतः स पन्थः", अर्थात् उसी मार्ग का अनुसरण करना चाहिए जिस पर अलौकिक व्यक्तित्व का स्वामी कोई महापुरुष चला हो। महान पुरुषों का जीवन चरित्र उस प्रकाश – स्तम्भ के समान है, जो युगों-युगों तक अन्धकार में भटकने वाले प्राणियों को सत्य की राह दिखाता है।

परमहंस महाराज श्री राम रतन दास जी का व्यक्तित्व स्वयं में अनोखा है, जिसमें विरह, वैराग्य, प्रेम, साधना, शालीनता, सहनशीलता, एवं समरसता का अलौकिक मिश्रण है। उनके जीवन चरित्र को पढ़कर तो

ऐसा ही प्रतीत होता है कि जैसे वे हमारे सामने ही उपस्थित हैं। उनकी आँखों के सामने जो भी आया, उन्हीं का होकर रह गया। उनकी कृपा-दृष्टि जिस पर भी पड़ गयी, चाहे वह अनपढ़ ही क्यों न हो, आध्यात्मिक क्षेत्र का वक्ता बन गया, कर्मकाण्डों के जाल में उलझा हुआ व्यक्ति साक्षात् परमधाम को देखने लगा, तो झोपड़ी में रहने वाला करोड़पति बन गया।

सद्गुरु महाराज श्री राम रतन दास जी के बचपन का नाम झण्डूदत्त था। उनका जन्म वि.सं. १९५१ में वैशाख मास के कृष्ण पक्ष की सप्तमी को सहारनपुर जिले के जड़ौदा ग्राम में हुआ था। उनके पिता श्री छज्जूदत्त शर्मा तथा माता श्रीमती मगन देवी थीं। उनका बचपन बड़े ही कष्टों में बीता। मात्र आठ वर्ष की उम्र में पिताश्री का देह त्याग हो गया, तो १३ वर्ष की आयु में माताश्री का।

लगभग पन्द्रह वर्ष से भी कम उम्र में उनका विवाह हो गया। एक पुत्री के जन्म हो जाने के पश्चात् उनका मन संसार में नहीं लगा , उनके अन्दर वैराग्य की अग्नि प्रज्वलित हो उठी। परिणाम यह हुआ कि वे मात्र १९ वर्ष की उम्र में घर छोड़कर निकल पड़े। गृह-त्याग करने के पश्चात् महाराज श्री राम रतन दास जी पुरी, रामेश्वर, मुम्बई, द्वारका, पुष्कर पहुँचे। वहाँ से पुनः जन्मभूमि आ गये। इस अवधि में लगभग दो वर्ष का समय लग गया। इस यात्रा में उन्होंने बहुत कठोर साधना की, किन्तु शान्ति प्राप्त नहीं हो सकी।

कुछ वर्ष जन्मभूमि के पास रहने के पश्चात् महाराज जी घर से पुनः निकल पड़े। इस बार वे "करो या मरो" का ही प्रण लेकर निकले थे। सच्चिदानन्द परब्रह्म की कृपा से वे भ्रमण करते हुए सोनगीर पहुँचे, जहाँ सद्गुरु



महाराज श्री नारायण दास जी से उनकी भेंट हुई। सद्गुरु महाराज से तारतम ज्ञान प्राप्त कर वे परमधाम के ध्यान में लग गये। सद्गुरु की कृपा से उन्होंने सच्चिदानन्द परब्रह्म तथा परमधाम का साक्षात्कार किया और तैत्तरीयोपनिषद् के उस कथन को भी सार्थक किया कि "ब्रह्मविदो ब्रह्मेव भवति"। उनकी शरण में आकर बहुत से सुन्दरसाथ ने परमधाम की अनुभूति की तथा आध्यात्मिक ज्ञान के सागर में अपने को डुबोया। उनके प्रेम में डूबे रहने वाले सुन्दरसाथ की मान्यता तो यही है कि सद्गुरु महाराज पल-पल हमारे साथ हैं।

सद्गुरु महाराज श्री राम रतन दास जी की कृपा की छाँव तले इस ग्रन्थ में उनकी जीवन-लीला पर थोड़ा प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। आशा है, यह आपको रुचिकर लगेगा। यदि इसमें कोई भूल हुई हो, तो

मैं क्षमा प्रार्थी हूँ।

आपका

राजन स्वामी

श्री प्राणनाथ ज्ञानपीठ

सरसावा

## (१)

दूर क्षितिज के कोने से पूर्णमासी का चन्द्रमा उदित हो रहा है। धीरे धीरे वह आकाश में विचरण करने लगता है। उमड़ते बादलों का समूह भी उसे रोक नहीं पा रहा है। शीतलता, सौम्यता, और सौन्दर्य का प्रतिमान स्वरूप है वह। शीतल हवा के झोंके उसकी छवि में और निखार ला रहे हैं। थोड़ी ही देर में उसकी सुनहरी चाँदनी अपनी शीतलता के आगोश में सारे संसार को डुबो देती है। इसी के समानान्तर पृथ्वी पर एक युवक भी तेजी से अपने कदम बढ़ाते हुए जा रहा है। मायावी बादलों को हटाकर वह भी उस मन्जिल पर पहुँचना चाहता है, जहाँ से वह पूर्णमासी का प्रेममयी चन्द्रमा बनकर समस्त संसार को अपनी शीतल किरणों से आच्छादित कर सके और दुःखों के दावानल को बुझा सके।



आकाश के चन्द्रमा में तो धब्बे भी दिखायी दे रहे हैं, लेकिन सूर्य रूपी परब्रह्म के ज्ञान और प्रेम को आत्मसात् कर झण्डूदत्त नामक यह युवक ऐसा चन्द्रमा बनने जा रहा है, जिसमें ढूँढने पर भी कोई धब्बा नहीं दिखायी देगा। इसके मनोहर, सुनहरे, एवं शीतल प्रकाश की आभा जिस प्राणी पर पड़ेगी, वह धन्य-धन्य हो जायेगा। युगों-युगों से भटकती हुई उसकी चेतना शान्ति और आनन्द के उस अनन्त महासागर में विहार करेगी, जिसकी इच्छा अनादि काल से ऋषि-मुनि एवं भक्तजन करते आ रहे हैं।

उपयुक्त परिस्थितियों में ही चिनगारी धधकती हुई ज्वाला के रूप में परिवर्तित हो पाती है, अन्यथा माया के थपेड़े तो चिनगारी को हमेशा ही बुझाने का प्रयास करते हैं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्रत्येक

विभूति ने अपनी सफलताओं की गाथा तूफानी झंझावातों के बीच ही लिखी है।

मात्र छः वर्ष की आयु में झण्डूदत्त जी अपने पिता के साथ दुधली मेले में पहुँचे। पिता श्री छज्जू शर्मा जी अत्यन्त ही कोमल एवं साधु हृदय के थे। वे अपने लाडले पुत्र को मेला दिखाते-दिखाते अपने जड़ौदा गाँव की कुछ महिलाओं के पास छोड़ गये।

"बब्बो! जरा इसे देखती रहना। मैं अभी आया।"

"ठीक है भइया। इसकी हम देखभाल करेंगी। तू निश्चिन्त होकर जा।"

पिताश्री को लौटने में देर होने लगी। झण्डूदत्त जी के धैर्य का बाँध टूटने लगा। वे मन ही मन सोचने लगे—  
"ऐसा लगता है कि पिताश्री जड़ौदा चले गये। उनके

बिना मेरा मन तो लगता नहीं। अब मुझे भी अपने गाँव चले जाना चाहिए।"

गाँव की महिलाओं से नजर बचाकर वे भाग निकले। पिता के मधुर स्नेह ने उन्हें अधीर कर रखा था। वे रोते हुए तेज कदमों से चले जा रहे थे। लगभग तीन कोस की दूरी तय करने के पश्चात् सामने से एक व्यक्ति आता हुआ दिखायी पड़ा। उसने उन्हें गोद में उठा लिया और सान्त्वना भरे शब्दों में कहा – "बेटे तू क्यों रोता है? तुम्हारे पिताजी तो आगे मक्के के खेत में हैं। वे तुम्हारी ही बाट देख रहे हैं। चलो, मैं तुम्हें वहीं ले चलता हूँ।"

बालक के निश्छल मन ने उस पर विश्वास कर लिया। वह व्यक्ति उन्हें कन्धे पर बिठाकर ले चला। कुछ दूर जाने के बाद वह मुख्य मार्ग से हटकर चलने लगा।

झण्डूदत्त जी को शक हुआ। उन्होंने डरते-डरते पूछा- "जड़ौदा पाण्डा का रास्ता तो उधर से जाता है। आप इधर से क्यों चल रहे हैं?"

"खबरदार! जो तुमने जबान खोली। चुपचाप मेरे कन्धे पर बैठा रह। मैं तुझे वहीं पर ले चल रहा हूँ, जहाँ तुम्हारे पिता हैं।"

ऐसा कहकर वह तेज कदमों से खेतों के बीच से भागने लगा। उसने मुख्य मार्ग को बिल्कुल ही छोड़ रखा था। अचानक ही पाण्डव तालाब दिखायी पड़ा। झण्डूदत्त जी को अपना घरेलू नौकर "समरु" दिखायी पड़ा। उन्होंने जोर से आवाज लगायी- "समरु! समरु!"

समरु आवाज सुनकर भागा-भागा आया। उसने देखा कि इस दुष्ट ने तो अपने ही झण्डूदत्त का अपहरण

कर रखा है। बस फिर क्या था । मारपीट, खींचतान शुरू हो गयी, दोनों एक-दूसरे पर लात-घूसों की बरसात करने लगे। झण्डूदत्त को प्राप्त करने के उद्देश्य से दोनों ने ही अपनी सारी शक्ति लगा दी।

अचानक समरू ने एक जोरदार लात दुष्ट की छाती में मारी। दुष्ट को दिन में तारे नजर आने लगे। उसने समझ लिया कि अब इससे पार पाना सम्भव नहीं है। कोई रास्ता न देखकर वह अकेले ही भाग निकला।

उसके पीछे-पीछे शोर करते हुए समरू भी भागा—  
"यह बच्चा-चोर है। इसे पकड़ो! पकड़ो!"

शाम ढल चुकी थी। चारों ओर घना अन्धकार छा चुका था, इसलिये कोई भी समरू की सहायता के लिये नहीं पहुँच पाया।

जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म छतरी के समान उसकी रक्षा करता है। मारने का प्रयास करने वाला चाहे कितना भी शक्तिशाली क्यों न हो, बचाने वाले के सामने कमजोर अवश्य पड़ जाता है।

दुष्ट को पकड़ने में असफल समरु लौट आया और झण्डूदत्त जी से सारी बात पूछने लगा कि तुम इसके जाल में कैसे फँस गये? उन्होंने सारी बात विस्तारपूर्वक बता दी।

समरु ने सोचा कि सबसे पहले मेले में जाकर पण्डित जी को सूचना दी जाये, अन्यथा वे बहुत परेशान होंगे। यह सोचकर उसने बालक झण्डूदत्त को जयपुर गाँव के चिरंजीव पण्डित के यहाँ ठहरा दिया तथा दौड़ा-दौड़ा मेले में पहुँचा।

उधर, मेले में चप्पे-चप्पे पर बालक की खोज जारी थी। बालक के गुम हो जाने की सूचना जिसे भी मिली, वह खोज में लग गया। समरू के मुख से सारी बात सुनने के पश्चात् पण्डित जी को धैर्य आया। वे जयपुर के लिये तुरन्त दौड़ पड़े।

अपने पिताश्री को देखते ही झण्डूदत्त उनके हृदय से जा लिपटे। एक-एक बात उन्होंने अपने पिता को कह सुनायी। सब कुछ सुनकर पण्डित छजू जी होठों ही होठों में बुदबुदा उठे- "बिना घरवालों की मिली-भगत के यह सब घटित नहीं हो सकता। भगवान ही सब ठीक करेंगे।"

घर आकर श्री छजू पण्डित जी यह जानने का प्रयास करते रहे कि अपहरण करने की यह कुटिल नीति किसने बनायी थी। बहुत प्रयास करने पर भी वे इसका रहस्य नहीं जान सके।



बड़े ताऊ के मन में हमेशा पाप भरा रहता था। वे हमेशा यही चाहते थे कि छजू के घर का दीपक बुझ जाये, ताकि उनकी सारी सम्पत्ति पर अपना एकाधिकार हो जाये।

समय बीतता गया। झण्डूदत्त जी के सिर पर मात्र ८ वर्ष तक ही पिता का साया रहा। अपनी मृत्यु की घोषणा उन्होंने पहले ही कर दी थी। पिता के धामगमन के पश्चात् लौकिक जीवन में कष्टों की बाढ़ सी आ गयी।



(२)

दिन और रात्रि की भांति सुख और दुःख का चक्र भी बदलता रहता है। सागर के किनारे जिस प्रकार दृढ़तापूर्वक खड़े रहकर ही अपनी सुरक्षा की जाती है, उसी प्रकार मायावी कष्टों से अपनी रक्षा के लिये धैर्य ही सबसे बड़ा शस्त्र है।

पिताश्री छज्जू पण्डित जी के देह-त्याग के पश्चात् परिवार में गरीबी ने अपना डेरा जमा लिया। बालक झण्डूदत्त जी की माता मगन देवी के लिये वैधव्य के साथ गरीबी का कष्ट वैसे ही था, जैसे कोढ़ में खाज। वे पड़ोस वालों के घर जाकर आटा पीसने का काम करतीं, उनसे जो कुछ मिलता, वही आहार का साधन होता।

परिवार में अब केवल तीन ही सदस्य थे – बालक

झण्डूदत्त, छोटा भाई बुद्धिदास, और माता श्री। गरीबी इतनी कि तीनों सदस्यों को कई दिन बिना खाये ही सोना पड़ता।

जंगल में लगी हुई अग्नि हवा के झोंकों से और प्रचण्ड होती जाती है। माया के कष्ट भी विपरीत परिस्थितियों में और अधिक बढ़ते जाते हैं।

दुर्भाग्यवश, गाँव में प्लेग की महामारी फैल गयी। चारों तरफ मृतकों की बाढ़ सी दिखायी देने लगी। लोग अपना घर-द्वार छोड़कर जंगलों में भागने लगे। एक-एक चिता पर दो-दो को जलाया जाने लगा। उस समय तो स्थिति यह थी कि श्मशान तक अर्थी ले जाने वाला भी बहुत कठिनाई से ही मिलता था। चारों ओर मौत का नंगा नृत्य हो रहा था। जिधर देखो उधर सूनापन ही सूनापन नजर आ रहा था।

स्नेह की मूर्ति माता दोनों बालकों को घर के बाहर निकलने ही नहीं देती थी। यह डर था कि पता नहीं कब काल प्लेग के रूप में आकर दबोच ले। घर में खाने के लिये एक दाना भी नहीं था। इस विषम परिस्थिति में माताश्री अचानक ही बीमार हो गयीं। माया की क्रूरता की तो अभी यह छोटी सी मिसाल थी।

मात्र सहनशीलता के सहारे कब तक बीमारी को सहन किया जाता? लाचार होकर उन्होंने शैय्या पकड़ ली। घर में जब भोजन के लिये भी एक पैसा नहीं, तो दवा कहाँ से लायी जाती?

एकमात्र पानी का ही भरोसा था। वही भोजन था और वही दवा भी। झण्डूदत्त चम्मच से मुँह में पानी डाल दिया करते, लेकिन ऐसा कब तक चलता।

एक दिन.....। प्रातःकाल ताऊ ने दरवाजे के बाहर से आवाज दी- "झण्डूदत्त! झण्डूदत्त!"

"जी अभी आया", कहते हुए झण्डूदत्त जी ने दरवाजा खोला।

"बेटे! तेरी माँ की तबियत कैसी है?"

"ताऊ जी! मेरी तो समझ में ही नहीं आ रहा है कि क्या करूँ? वह दिन-रात पलंग पर लेटी रहती है। मैं उनके मुँह में चम्मच से पानी डाल दिया करता हूँ।"

यह सुनकर ताऊ जी वापस चले गये, लेकिन उनका मन बेचैन था। बीच-बीच में हाल पूछते रहते। झण्डूदत्त जी ने उत्तर दिया था- "अब तो माँ ने बोलना बन्द कर दिया है। पानी भी अब नहीं माँगती है, लेकिन मैं मुँह में पानी डाल दिया करता हूँ।"

आधी रात को ताऊ देखने आये। देखते ही वे सन्न रह गये। झण्डूदत्त जी को झिड़कते हुए बोले – "तू तो कहता था कि माँ सो रही है और कुछ बोलती ही नहीं है। यह बहुत पहले ही इस दुनिया से जा चुकी है।"

माँ का खुला हुआ मुख देखकर झण्डूदत्त जी की आँखों में आँसू भर आये। होनी को भला कौन टाल सकता था।

पुनः ताऊ जी सान्त्वना देते हुए बोले – "तू जाकर गाँव में देख कि कहीं कोई और तो मरा हुआ नहीं है। जिस गाड़ी में उसकी अर्थी ले जायी जा रही होगी, उसमें ही इसको भी रख देंगे, नहीं तो यहाँ पर पड़े-पड़े इसकी लाश सड़ जायेगी। इसको ले जाने वाला तो कोई आयेगा भी नहीं।"

थोड़ी देर के बाद वे पुनः बोले- "मेरे पास थोड़ा सा आटा भी रख दो। मैं पिण्ड बनाकर उसकी अर्थी के साथ रख दूँगा।"

झण्डूदत्त जी ने आँसुओं में डूबे हुए अपने मुख को ऊपर उठाते हुए उत्तर दिया- "ताऊ जी! इस घर में जब दो दिन से हमने कुछ खाया ही नहीं है, तो आटा कहाँ से लायें? थोड़ा सा गुड़ पड़ा हुआ है, उसे ही थोड़ा सा खाकर हम पानी पीकर सो जाया करते हैं। देखता हूँ, यदि कहीं से मिल जाता है तो लेकर आता हूँ।"

क्रूर काल के पंजों ने पिता का स्नेहमयी हाथ तो पहले ही छीन लिया था, माँ का ममतामयी आञ्चल भी छीन लिया। यह विधाता की कैसी रचना है जिसमें माया के जीव तो विलासिता में डूबे रहते हैं, जबकि सबको मुक्ति के स्वर्णिम पथ पर ले जाने वाले इस भावी परमहंस



के पास अपनी माँ के दाह-संस्कार के लिये भी पैसे नहीं हैं।

उन्हें अचानक ही याद आया कि पिताजी ने कुछ रुपया गाँव के एक सोनार को उधार दिया था। भोले मन में यह बात आयी कि यदि वह सोनार पैसा वापस कर दे, तो माँ का दाह संस्कार हो जायेगा। यह सोचते-सोचते वे उस सोनार के घर जा पहुँचे।

दरवाजे पर पहुँचकर उन्होंने "ताऊ जी, ताऊ जी" कहकर आवाज लगायी। पुकार सुनकर सोनार ने दरवाजा खोला। झण्डूदत्त जी के उदास चेहरे की ओर देखते हुए बोला- "बेटे, तुम इतने अधिक परेशान क्यों दिख रहे हो? तुम्हारा चेहरा बता रहा है कि तुम बहुत अधिक दुःखी हो।"

"क्या करें ताऊ जी! पिताजी तो पहले ही चले गये थे, अब माँ भी चल बसी। भाग्य का ऐसा खेल है कि दाह-संस्कार के लिये भी पैसे नहीं हैं।"

"यह तो बहुत ही बुरा हुआ। तुम धैर्य रखो। भगवान तुम्हारा भला करेंगे। तुम्हारे पिताजी से मैंने कुछ रुपये उधार लिये थे। मैं तुम्हें ५ किलो गेहूँ देता हूँ। इससे तुम अपनी माँ का पिण्ड-दान करवाओ।"

गेहूँ लेकर झण्डूदत्त जी घर वापस आये तथा उसे रखकर बैलगाड़ी की खोज में निकल पड़े, ताकि उस पर माँ को श्मशान तक पहुँचाया जा सके। अर्थी में कन्धा देने के लिये तो कोई तैयार था ही नहीं।

चलते-चलते उन्होंने एक घर का दरवाजा खटखटाया। काफी देर के पश्चात् एक महिला ने दरवाजा

खोला और बोली- "भाई! जल्दी बता। क्या बात है?"

"तुम्हारे यहाँ आज कोई मरा तो नहीं है?"

"मरें तुम्हारे घर वाले। चल, भाग यहाँ से। क्या यही कहने के लिये तू दरवाजा पीट रहा था?"

यह कहते हुए वह गालियाँ देने लगी। उसका चेहरा क्रोध से लाल हो रहा था। झण्डूदत्त जी ने वहाँ से चुपचाप चल देना ही उचित समझा।

आगे के मकान पर उन्होंने दस्तक दी। यहाँ पर पहले जैसा ही घटित हुआ। एक अधेड़ महिला ने दरवाजा खोला। झण्डूदत्त जी ने उससे पूछ लिया - "ताई, तुम्हारे घर आज कोई मरा तो नहीं।"

यह सुनते ही उसका पारा सातवें आसमान तक जा पहुँचा, लगी गालियाँ बकने। झण्डूदत्त जी को यह समझ

में ही नहीं आ रहा था कि आखिरकार सभी क्यों नाराज हो रही हैं? वहाँ से सिर नीचा कर चल देने के सिवाय कोई अन्य चारा भी नहीं था।

इसके पश्चात् झण्डूदत्त जी ने घर-घर में झाँक-झाँक कर यह पता लगाना शुरू किया कि किस घर में भीड़ लगी है। अन्ततोगत्वा, एक परिवार ऐसा मिल ही गया जहाँ कोई मरा हुआ था। उन्होंने उस घर के एक सदस्य से बात की- "भाई! क्या आप भी दाह-संस्कार करवाना चाहते हैं?"

"हाँ! क्या बात है?"

"मेरी माँ की मृत्यु हो चुकी है। मैं चाहता हूँ कि जब आप गाड़ी में अर्थी ले जायें, तो मेरी माँ के मृतक शरीर को भी लेते जायें। आपकी अति कृपा होगी।"

"कोई बात नहीं। तुम अर्थी तैयार किये रहो। हम बहुत जल्दी ही गाड़ी लेकर आयेंगे। उसमें तुम उसे रख देना।"

इधर ताऊ ने पिण्डदान के लिये गुड़ और गेहूँ का मिश्रण तैयार कर रखा था। झण्डूदत्त जी ने जैसे ही गाड़ी मिल जाने की सूचना ताऊ को दी, वैसे ही थोड़ी देर में गाड़ी आ गयी। बोझ ढोने वाली उस गाड़ी में माँ के मृतक शरीर को भी लाद दिया गया।

मानव जीवन में कष्टों की बाढ़ तो रहती ही है , किन्तु समुचित रूप से दाह-संस्कार न हो पाना बहुत ही कष्टकारी होता है।

**वस्तुतः कष्टों और संघर्षों की अग्नि में तपकर ही उस महान व्यक्तित्व का निर्माण होता है, जिसके द्वारा**

सम्पूर्ण मानव समाज का मार्गदर्शन होता है।



## (३)

संसार के रिश्ते टूटते रहते हैं। आत्मा तथा परमात्मा का सम्बन्ध अनादि और अखण्ड है। जहाँ कोई भी सहारा नहीं होता, वहाँ परमात्मा ही आधार होता है।

माता के देह-त्याग के पश्चात् विपत्तियों का पहाड़ टूट पड़ा। पढ़ाई-लिखाई तो छूट ही गयी, पेट भरने के भी लाले पड़ने लगे। नौ वर्ष की उम्र तक नाम मात्र के लिये हिन्दी और संस्कृत की पढ़ाई हो सकी थी।

अपना पेट भरने के लिये झण्डूदत्त जी को गायें चरानी पड़ीं। भरपेट भोजन तो कभी-कभी ही मिल पाता था। इतना कुछ होने पर भी उन्होंने कभी यह जाहिर नहीं होने दिया कि वे भूखे हैं। न तो उन्होंने कभी किसी के आगे हाथ फैलाया और न किसी के घर में बनने वाले



स्वादिष्ट भोजन की ओर देखा।

माँ के देह-त्याग के पश्चात् दोनों भाइयों के लिये संसार में ऐसा कोई सम्बन्धी था ही नहीं, जो उन्हें भोजन बनाकर खिलाता। कभी तो वे आटा घोलकर पी लेते, तो कभी मुट्ठी भर अन्न ही चबा लेते। वह भी न मिलने पर पानी से अपना पेट भर लेते। दूसरों के खेतों में जब खड़ी फसल कट जाती थी, तो जमीन पर गिरे हुए अन्न को वे इकट्ठा कर लेते थे। एकमात्र यही उनकी सम्पत्ति हुआ करती थी।

एक बार कई दिनों तक दोनों भाइयों को भोजन नहीं मिला। गाय चराने के काम में दोनों ही साथ-साथ रहा करते थे। बुद्धिदास जी को गायों की देखभाल करने के लिये छोड़कर, झण्डूदत्त जी गाँव में थोड़ी देर के लिये आ गये। गाँव में उन्होंने कहीं से थोड़े से आटे की

व्यवस्था की, ताकि रोटियाँ बनायी जा सकें। ये रोटियाँ बहुत दिनों के बाद बनी थीं। उसे लेकर वे जँगल में गये तथा एक पेड़ के नीचे रख दिया और बुद्धिदास जी को बुलाने चले गये। जब भाई को लेकर वापस आये, तो देखा कि वहाँ पर तो रोटियाँ हैं ही नहीं। चारों तरफ जब नजर दौड़ाई तो देखा कि एक बन्दर पेड़ पर बैठकर बहुत मजे से रोटियाँ खाता जा रहा है।

वह दोनों भाइयों की ओर देखकर घुड़की भी देता और चिढ़ा-चिढ़ा कर रोटियाँ खाता जाता। लाचार होकर दोनों भाई उसकी ओर देखते रहे। सच है बुरे समय में कोई भी साथ नहीं देता। जँगल में महाराणा प्रताप के बच्चों के हाथ से भी तो घास की रोटी को ऊदबिलाव छीन ले गया था।

पैतृक सम्पत्ति के रूप में यजमानों से मिलने वाली

दक्षिणा की आय थी, जिसे ताऊ ही डकार जाता था। उस निर्दयी के हृदय में जरा भी विचार नहीं आता कि ये छोटे-छोटे बच्चे क्या खायेंगे?

इस सृष्टि में हमेशा से ही यह होता आया है कि बड़ी मछली छोटी मछलियों को निगलती रही है। ताऊ इसी सिद्धान्त की एक कड़ी था।

यद्यपि यजमान लोग कभी-कभी दोनों भाइयों को भी बुलाते थे, लेकिन ताऊ उन तक दक्षिणा पहुँचने ही नहीं देते।

अपना पहला दाँव असफल होते देख, ताऊ ने दूसरा तीर छोड़ा। उसने झण्डूदत्त को शाम के समय बुलवाया और बड़े प्यार से कहा— "बेटे! यहाँ से चार कोस की दूरी पर लालोनखेड़ी गाँव है। वहाँ से यजमानों

का सन्देश लेकर यह नाई आया हुआ है। सवेरे ही वहाँ कुछ कार्यक्रम होना है। शाम को ही तुम्हारा वहाँ जाना जरूरी है, क्योंकि प्रातःकाल चलने पर समय से नहीं पहुँचा जा सकता। मैं तो अब बूढ़ा हो गया हूँ। तुम तो बच्चे हो, दौड़ते-दौड़ते ही चले जाओगे।"

भोले मन वाले झण्डूदत्त ने ताऊ की आज्ञा स्वीकार की और तुरन्त ही लालोनखेड़ी के लिये चल दिए। वे अपने ताऊ के षड्यन्त्र को जरा भी भाँप न सके।

जब वे घर से चले, तो शाम ढलने लगी थी। थोड़ी ही देर में अन्धेरा छा गया। सुनसान रास्ते में भय लगने लगा।

उस समय भेड़ियों का इतना अधिक आतंक था कि

वे गाँवों में भी घुसकर बच्चों को उठा लिया करते थे। रात में निहत्थे चलना तो मौत को ही निमन्त्रण देना था। ताऊ ने तो इसी मानसिकता से भेजा ही था कि साँप भी मरे और लाठी भी न टूटे, अर्थात् झण्डूदत्त भेड़ियों का शिकार बन जाये और मेरे ऊपर दोष भी न आए। बाद में छोटे को भी अपनी राह से हटाकर घर पर कब्जा जमा लूँगा।

मरने के बाद मनुष्य एक कण भी अपने साथ नहीं ले जाता, फिर भी वह धन कमाने में इतना बेसुध हो जाता है कि पाप की गठरी अपने सिर पर लादने में जरा भी संकोच नहीं करता।

झण्डूदत्त जी को जब भेड़ियों का डर लगने लगा, तो उन्होंने एक वृक्ष पर चढ़कर रात गुजारने का निर्णय लिया। जैसे ही वे एक वृक्ष की ओर बढ़े, सामने से आता

एक व्यक्ति दिखाई पड़ा। उसने स्नेह भरे शब्दों में पूछा –  
"बेटे! इतनी रात गये तुम अकेले ही इधर कहाँ जा रहे हो?"

"मैं जा तो रहा था लालोनखेड़ी के लिये, लेकिन अकेले होने से मैंने सोचा कि सामने वाले पेड़ पर चढ़कर रात गुजार लूँ।"

"डरने की कोई आवश्यकता नहीं है। चलो, मैं तुम्हें वहीं पहुँचा देता हूँ।"

दोनों ही चल पड़े। थोड़ी देर में लालोनखेड़ी गाँव आ गया। झण्डूदत्त जी अपने यजमानों के बीच पहुँच गये। अगले दिन उन्नीस रुपये और पाँच किलो लड्डू देकर यजमानों ने उन्हें विदा किया।

इतने पैसे और लड्डू पाकर झण्डूदत्त जी बहुत ही

खुश थे। वे खुशी से उछलते हुए घर की ओर चल पड़े। रास्ते में एकान्त जगह में उन्होंने अपने लड्डुओं को गिना और इस बात से वे विभोर हो उठे कि यदि प्रतिदिन एक-एक लड्डू भी हम दोनों खायेंगे तो भी काफी दिन निकल जायेंगे।

इसी उधेड़बुन में वे रास्ता भूल गये और असली राह छोड़कर दूसरी राह जा पकड़े। जँगल-जँगल भटकना पड़ा। इस प्रक्रिया में सूर्यास्त हो गया तथा चारों ओर अन्धकार छा गया। वे घबरा गये कि कल की तरह आज भी भटकने वाली स्थिति बन गयी है।

परमात्मा की कृपा से एक व्यक्ति दिखायी पड़ा। वह गड़रिया था और पास के किसी गाँव से आ रहा था। जब उससे बातचीत हुई, तो पता चला कि वह जड़ौदा ही जा रहा था। वह अपने साथ झण्डूदत्त जी को ले चलने के



लिये राजी हो गया।

गड़रिये ने झण्डूदत्त जी को उनके घर पर पहुँचा दिया। जैसे ही क्रूर-हृदय ताऊ को पता चला कि झण्डूदत्त तो सकुशल जीवित आ गया है तथा साथ ही दक्षिणा में ५ किलो लड्डू तथा १९ रुपये भी लाया है, तो वह मन मसोस कर रह गया। पश्चाताप में सिर पटकने के सिवाय वह और क्या कर सकता था।



(४)

नारी ही निर्मात्री है। अध्यात्मवादी नारी जहाँ सृष्टि को स्वर्ग बनाने का सामर्थ्य रखती है, वहीं भोगवादी नारी पृथ्वी को नर्क में भी परिवर्तित कर सकती है।

झण्डूदत्त जी की बुआ करुणा और स्नेह की साक्षात् मूर्ति थीं। माता के देह-त्याग के पश्चात् उन्होंने ही माँ की भूमिका निभायी। दोनों भाइयों को जरा भी माँ की कमी का अहसास नहीं होने दिया।

एक दिन बुआ ने झण्डूदत्त जी से एकान्त में बहुत प्यार से पूछा- "बेटे! मेरा दिल कहता है कि तुम्हारी माँ ने घर में अवश्य ही कहीं न कहीं धन छिपा रखा है। उस धन की खोज करना बहुत ही आवश्यक है। क्या तुमने अपनी माँ को किसी स्थान पर दीपक जलाते हुए देखा

है?"

"हाँ बुआ! हमने माँ को उस स्थान पर दीपक जलाते हुए देखा है। जब हम उससे पूछते थे कि वहाँ तुम किसलिये दीपक जलाती हो, तो वह धमकाने लगती थी।"

"यह तो बहुत खुशी की बात है। तुम दरवाजे को अन्दर से बन्द कर दो और चलो अभी खोदते हैं।"

झण्डूदत्त जी ने फावड़ा सम्भाला और खोदना शुरू कर दिया। खोदने पर एक छोटा सा घड़ा निकला, जिसमें पन्द्रह सौ रुपये छिपाकर रखे गये थे। उन्हें देखकर तीनों ही बहुत खुश हो गये। बुआ ने दोनों भाइयों को समझाते हुए कहा— "इस पैसे के बारे में तुम किसी से भी कुछ नहीं कहना। तुम्हारे चारों ओर ठग ही ठग हैं।"

इस धन से तुम्हारा विवाह भी हो जायेगा तथा अन्य आवश्यक कार्य भी पूरे हो जायेंगे।"

माँ के छिपाये हुए पैसे मिल जाने पर घर का काम अच्छी तरह से चलने लगा। बुआ दोनों भाइयों से बहुत अधिक स्नेह करती थीं। कभी तो अपने ससुराल रहतीं और कभी अपने मायके में दोनों भाइयों के पास। आवश्यकता पड़ने पर अपने पास से धन भी खर्च करतीं।

उस समय बहुत ही छोटी उम्र में विवाह हो जाया करते थे। पिता के देह-त्याग के समय झण्डूदत्त जी की उम्र मात्र आठ वर्ष की थी। पिता के समय में ही दोनों भाइयों की मँगनी हो गयी थी, किन्तु उनके शरीर छूटते ही रिश्ते टूट गये थे।

छोटे भाई बुद्धिदास जी से जिस कन्या का रिश्ता तय किया गया था, वह टूट गया और उसकी सगाई झण्डूदत्त जी से हो गयी। इसी प्रकार किसी अन्य लड़की से बुद्धिदास जी की भी सगाई हो गयी।

यद्यपि झण्डूदत्त जी विवाह के बन्धन में नहीं बँधना चाहते थे, किन्तु उनकी सुनने वाला कौन था। सगे-सम्बन्धियों ने जबरन ही दोनों भाइयों का विवाह एक ही मण्डप के नीचे कर दिया।

विवाह का अर्थ ही होता है— विशेष रूप से बोझा ढोना। घर में पत्नी को देखते ही झण्डूदत्त भय से सिहर जाते। उन्हें ऐसा प्रतीत होता जैसे कि किसी ने उनको जेल में बन्धक बना रखा हो।

हृदय में अब दिन-पर-दिन वैराग्य की अग्नि

धधकने लगी। रामायण और सुख सागर के अध्ययन में रुचि बढ़ी। पन्द्रह वर्ष की उम्र तक रामायण कण्ठस्थ हो गयी थी।

वैराग्य का प्रभाव दिन-पर-दिन बढ़ता ही जा रहा था। घर में कन्या भी जन्म ले चुकी थी। जब भी झण्डूदत्त जी एकान्त में होते, तो संसार छोड़ने की बातें सोचा करते। पत्नी का बन्धन बहुत ही कष्टकारी प्रतीत हो रहा था।

झण्डूदत्त जी के लिये सारा संसार ही अग्नि की लपटों के समान दुःखमय लगने लगा। किसी भी रिश्ते के प्रति उनके मन में कोई आकर्षण नहीं रहा। उन्हें लगता जैसे घर-द्वार, रिश्ते-नाते सभी खाने को दौड़ रहे हों।

विवाह के बाद वे पिंजड़े में बन्द पक्षी की तरह ही

फँस गए थे। अन्तरात्मा पुकार उठी— "कब तक तू इन बन्धनों में फँसा रहेगा। इन बन्धनों को शीघ्र तोड़ और अपने प्रियतम को प्राप्त कर ले।"

पूर्वकाल में गौतम ने भी तो सत्य की खोज में पत्नी और पुत्र का त्याग किया था। हृदय में विवेक की ज्योति जल जाने पर भला कौन संसार के बन्धनों में रहना चाहेगा।

**नदियों के बहते प्रवाह को तो रोका जा सकता है,  
किन्तु शुद्ध वैराग्य के वेग को नहीं रोका जा सकता है।**

अपनी अन्तरात्मा की पुकार पर झण्डूदत्त जी ने गृह-त्याग का दृढ़ निश्चय कर लिया। संसार में कोई ऐसा बन्धन नहीं था, जो उनके निर्णय को बदल पाता।



## (५)

आधी रात का घोर सन्नाटा छाया हुआ है। झण्डूदत्त जी अपनी उम्र के उन्नीसवें वसन्त में प्रवेश कर चुके हैं। हृदय में वैराग्य की धधकती हुई ज्वाला उन्हें घर छोड़ने के लिये मजबूर कर रही है। वे परिवार के प्रत्येक सदस्य को एक नजर देखकर प्रणाम करते हैं और चल पड़ते हैं शाश्वत सत्य की खोज में.....।

घर से चलते समय उन्होंने अपने पास मात्र सवा रुपये, एक चद्वर, और एक धोती रखी। अपनी जन्मभूमि से पैदल चलकर अगली रात्रि मुजफ्फरनगर पहुँचे, जहाँ एक मन्दिर में उन्होंने विश्राम किया। उनके सुन्दर रूप-रंग को देखकर किसी ने भी यह नहीं सोचा कि ये भूखे हैं और इनके भोजन की कोई व्यवस्था करनी चाहिए।



अगले दिन भी उन्हें किसी ने भोजन के लिये नहीं पूछा। इस प्रकार तीन दिन भूखों रहने के पश्चात् उनके मन में यह विचार आया कि यदि मैं मथुरा चलूँ तो परमात्मा के दर्शन हो सकते हैं।

यह सोचकर उन्होंने मथुरा के लिये पैदल ही प्रस्थान किया। कहीं-कहीं कुछ भोजन मिल जाता था। कई दिन की यात्रा के पश्चात् वे अलीगढ़ पहुँचे। वहाँ एक दयालु-हृदय लाला जी से भेंट हुई।

उसने पूछा- "आपका चेहरा इतना उतरा हुआ क्यों है? यदि आप भूखे हैं तो मैं आपको भोजन करवाना चाहता हूँ और यदि आपको कुछ पैसों की आवश्यकता है तो मैं उसकी भी सेवा करना चाहता हूँ।"

उसके अन्दर मानवीय संवेदना देखकर झण्डूदत्त

जी ने अपने मन की बात कह डाली- "भाई! मैं तीन दिन से भूखा हूँ। मेरे चेहरे के उतरे होने का यही कारण है। मैं परमात्मा के अतिरिक्त अन्य किसी के भी आगे हाथ नहीं फैलाता। मैंने मथुरा की यात्रा का निश्चय किया हुआ है। भूख के कष्ट की मुझे कोई भी चिन्ता नहीं है।"

यह बात सुनकर लाला जी बहुत भावुक हो गये और उन्होंने झण्डूदत्त जी को भरपेट भोजन करवाया, तत्पश्चात् बोले- "आप कृपा करके यह लोटा भी स्वीकार कीजिए। यात्रा में इसकी बहुत आवश्यकता पड़ती है।" उसकी श्रद्धा भावना को देखकर झण्डूदत्त जी ने उसकी भेंट स्वीकार कर ली।

लाला जी से विदा लेकर झण्डूदत्त जी मथुरा के लिये चल पड़े। अभी थोड़ी ही दूर गये होंगे कि दो सिपाहियों ने रास्ता रोक लिया और रोबीली आवाज में

बोले- "ऐ लड़के! तुम कौन हो? तुम अपना नाम-पता सही-सही बताओ, तभी जाने देंगे।"

झण्डूदत्त जी ने उत्तर दिया- "मैं सहारनपुर जिले के जड़ौदा गाँव का निवासी हूँ। मेरा नाम झण्डूदत्त है और मैं श्री कृष्ण जी के दर्शन के लिये मथुरा जा रहा हूँ।"

एक सिपाही धमकाने के अन्दाज में बोला- "तुम आवारा लड़कों की तरह सड़कों पर क्यों घूमा करते हो? क्या तुम अपना नाम लिख-पढ़ लेते हो?"

अभी झण्डूदत्त जी कुछ बोल भी नहीं पाये थे कि दूसरा सिपाही डराते हुए ऊँचे स्वर में बोला- "यह जाएगा क्यों नहीं? हम इसे डण्डे से ले जायेंगे।"

पुनः झण्डूदत्त जी को सम्बोधित करते हुए बोला-

"देखो! हम तुम्हें पचास रुपये महीने की नौकरी दिलवा देंगे। तुम्हें केवल थोड़ा-सा लिखने का ही काम करना होगा।"

झण्डूदत्त जी ने बहुत मना किया कि वे नौकरी नहीं करेंगे। उन्होंने महात्मा बनने के उद्देश्य से घर छोड़ा है, लेकिन बुद्धिविहीन पुलिस वाले उनकी बात कहाँ सुनने वाले थे। वे उनको जबरन पकड़कर ले ही गये।

जिस स्थान पर झण्डूदत्त जी को ले जाया गया, वह शहर से बाहर था। उसमें सभी वर्गों के लोग शामिल थे। भोजन बनाने में स्वच्छता का कोई भी ख्याल नहीं था। भोजन बनाने वाले तथा परोसने वाले सभी निम्न वर्गों के लोग थे, जो सफाई की परिभाषा जानते ही नहीं थे।

झण्डूदत्त जी का हृदय वहाँ भोजन करने के लिये

तैयार नहीं हो सका। उन्होंने दो दिनों तक बिना खाये ही गुजार दिया। अचानक वहाँ पर उनकी भेंट एक कर्मकाण्डी ब्राह्मण से हो गयी।

उसने झण्डूदत्त जी से पूछा— "आप इस जाल में कैसे फँस गये?"

"जैसे आप फँस गये।"

"यहाँ पर हमारा गुजारा कैसे चलेगा?"

"देखो भाई! एक ही तरीका है कि यहाँ से सूखा आटा ले लिया जाये और अलग भोजन बनाया जाये। हम दोनों ब्राह्मणों का धर्म तभी सुरक्षित रह सकता है।"

"यह बात ठीक है। तुम उपवास पर बैठो और मैं शोर मचाता हूँ कि ब्राह्मण देवता भूखे हैं। तभी हमें आटा मिल सकेगा।"

उस ब्राह्मण का स्वभाव तो पहले से ही क्रोधी था। भूखे होने के कारण उनके क्रोध में और वृद्धि हो गयी। वहाँ जो भी आता, उससे भोजन का मामला उठाकर वे लड़ पड़ते। उनके क्रोध का अँगारा दहक रहा था। चारों तरफ दोनों के भूखे होने की बात फैल गयी।

जब भोजनालय के प्रबन्धक को यह बात मालूम हुई, तो उसने उन दोनों को अपने कार्यालय में बुलवाया। सारी बात सुनकर उसने कच्चा राशन दिलवाया। तब कहीं जाकर भूख मिटी।

कुछ दिनों के बाद, इन सभी लोगों को कलकत्ता (कोलकाता) भेजे जाने का आदेश हुआ। सभी लोगों को रेल द्वारा कोलकाता पहुँचाया गया।

वहाँ पर झण्डूदत्त जी को अंग्रेज अधिकारी के समक्ष

उपस्थित होना पड़ा। उसने जब झण्डूदत्त जी के कोमल हाथों को देखा, तो बोल पड़ा— "इतने कोमल तो तुम्हारे हाथ हैं। भला इनसे तुम कैसे काम करोगे? तुम अपने हाथों पर तब तक चूना मलो, जब तक ये कठोर न हो जाएँ।"

तीन दिन तक झण्डूदत्त जी अपने हाथों पर चूना मलते रहे। जब अधिकारियों को पता चला कि अब झण्डूदत्त जी के हाथ कुछ कठोर हो गये हैं, तो उनके वस्त्र उतार लिये गये और एक विशेष प्रकार का वस्त्र उन्हें पहनाया गया।

वास्तव में इन लोगों को यहाँ लाने का उद्देश्य था, समुद्र में वीरान द्वीपों को आबाद करना। अंग्रेज सरकार इन लोगों को "फिजी" नामक द्वीप में बसाना चाहती थी।

जिन लोगों को कोलकाता ले जाया गया था, उनमें से कुछ लोगों को फिजी द्वीप में भेजने के लिये छाँटा गया। समुद्र में एक जहाज खड़ा था। उसमें इन लोगों को एक-एक करके चढ़ाया जाने लगा। एक अंग्रेज साहब सभी के हाथों पर मुहर लगाता जाता और दूसरा साहब उस व्यक्ति को जहाज के अन्दर भेज देता।

सभी लोगों को एक पंक्ति में खड़ा किया गया था। झण्डूदत्त जी और क्रोधित पण्डित भी उस पंक्ति में खड़े थे। दोनों के मन में यह विचार कौंध रहा था कि यदि हमने अपना बचाव नहीं किया, तो कुछ ही पलों में हमें इस जहाज में बैठा दिया जायेगा। इसका दुष्परिणाम यह होगा कि हमसे अपना देश हमेशा के लिये छूट जायेगा।

झण्डूदत्त जी ने पण्डित जी को प्रेरित किया –  
"पण्डित जी! अब तो रक्षा का कोई उपाय कीजिए,



अन्यथा हमें अपना देश छोड़ना पड़ेगा। आपकी सिद्धियाँ कब काम आयेंगी?"

इस बात को सुनकर क्रोधी पण्डित कुछ देर तक तो सोचते रहे, पुनः बोल पड़े— "देखो! तुम मेरे पीछे अलग पंक्ति में खड़े हो जाओ। तुम्हें किसी से कुछ भी नहीं कहना है। जो भी बात करनी होगी, वह अकेले मैं ही कर लूँगा।"

यह कहकर पण्डित जी अलग पंक्ति में खड़े हो गये। उनकी देखा-देखी झण्डूदत्त जी भी उनके पीछे खड़े हो गये।

उनके इस क्रिया-कलाप को दो सिपाहियों ने देख लिया। वे उनके पास आये और बहुत ही क्रोधित होकर बोले— "तुम दोनों उल्टी गंगा क्यों बहा रहे हो? किससे

पूछकर तुमने अपनी अलग लाइन बनाई?"

कोई उत्तर न मिलने पर उन दोनों को पकड़कर अंग्रेज अधिकारी के आगे पेश किया गया।

उसने पूछा— "तुम दोनों अलग पंक्ति में क्यों खड़े हो गये थे?"

पण्डित जी ने उत्तर दिया— "हम अपनी इच्छा से यहाँ नहीं आए हैं। पुलिसवालों ने हमें धोखे में डालकर यहाँ फँसा दिया है। उन्होंने कहा था कि तुम्हें पचास रुपये मासिक की नौकरी मिलेगी, लेकिन हमें तो अब तक पूरी तरह से यह भी पता नहीं कि हमें कहाँ भेजा जा रहा है और हमसे क्या काम करवाया जायेगा?"

उस अंग्रेज अधिकारी ने पूछा— "तुम कौन हो और अपने घर पर क्या काम करते हो?"

पण्डित जी पुनः बोल पड़े- "साहब! हम दोनों ही ब्राह्मण हैं। परमात्मा की कथा-चर्चा एवं भजन-कीर्तन ही हमारा पैतृक व्यवसाय है। आप जो काम हमसे लेना चाहते हैं, उसे करने में हम असमर्थ हैं। आप हमें मुक्त कर सकें, तो आपकी बहुत कृपा होगी।"

यह बात सुनते ही उस अंग्रेज ने अपने से छोटे अधिकारी को यह आदेश दिया कि इन दोनों को घर जाने तक का सारा खर्च दिया जाये।

साहब के हुक्म का तुरन्त पालन हुआ। झण्डूदत्त जी और उनके साथी को पाँच-पाँच रुपये तथा रेलवे का "पास" भी प्राप्त हो गया।

झण्डूदत्त जी ने मथुरा जाने का पास बनवाया क्योंकि उनके मन में श्री कृष्ण जी के दर्शन की प्यास

थी। कोलकाता से मथुरा जाने वाली ट्रेन वाराणसी से होकर जाती है। वाराणसी आते ही उनके मन में यह विचार उठा— "यह काशी नगरी ज्ञान की नगरी है। तुम कुछ दिनों तक यहाँ पर रहकर ज्ञान क्यों नहीं ग्रहण कर लेते? अभी तुम्हारी उम्र ही क्या बीती है? यदि तुमने शिक्षा ग्रहण करने का यह सुनहरा अवसर खो दिया, तो बाद में पछताना पड़ेगा।"

इस विचार के दृढ़ होते ही वे स्टेशन पर उतर गये। जैसे ही वे नगर के धार्मिक विद्यालय के पास गये, उनका मन डाँवाडोल हो गया और दूसरी ही विचारधारा उनके मन में घर कर गयी।

"विद्या पढ़कर तुम प्राप्त ही क्या कर लोगे? सभी विद्वान तो कौए की तरह लड़ते रहते हैं। इस तरह की पढ़ाई से तो बिना पढ़े ही रहना अच्छा है। परमात्मा की

सेवा-भक्ति से बढ़कर और कुछ भी नहीं है।"

यह सोचते ही वे विद्यालय के बाहर से लौट पड़े। उनके अन्दर विचारों का तूफान चल रहा था। अपने निवास पर आने पर भी उन्हें शान्ति नहीं मिल सकी। कभी तो वे सोचते कि जब उन्नीस वर्ष बिना पढ़े बीत गये, तो अब पढ़कर क्या करूँगा? अब तो पढ़ाई का असली समय बीत गया है।

कभी उनके मन में ऐसा आता कि विद्या ग्रहण करना बहुत आवश्यक है। पूरी रात सोचते-सोचते ही बीत गयी, लेकिन वे कोई भी स्पष्ट निर्णय नहीं ले सके।

प्रातःकाल होते ही झण्डूदत्त जी पुनः विद्यालय की ओर चल पड़े। जैसे ही वे विद्यालय के द्वार तक पहुँचे, उनके पैर ठिठक गये। मन रूपी सागर में विचारों का

तूफान सा आ गया। वे पुनः सोचने लगे- "इस लौकिक पढ़ाई में रखा ही क्या है? तुम क्यों अपना जीवन नष्ट करना चाहते हो?"

इस विचार की प्रबलता ने उन्हें वापस लौटने के लिये मजबूर कर दिया। अपने निवास पर आते-आते वे थककर चूर हो गये। वे यह समझ ही नहीं पा रहे थे कि वह कौन सी शक्ति है जो उन्हें विद्यालय के द्वार पर से वापस लौटा लाती है? इस तरह से वे लगातार आठ दिन तक विद्यालय के द्वार तक गये और वापस लौट आये।

नौवें दिन भी वे विद्यालय के द्वार पर खड़े हो गये। उनके हृदयाकाश में पुनः विचारों के बादल उमड़ने लगे। उनकी समझ में ही नहीं आ रहा था कि वे क्या करें? ऐसी स्थिति में उनके कानों में यह मधुर आवाज सुनायी

पड़ी- "बेटे! इतनी चिन्तित मुद्रा में विद्यालय के द्वार पर क्यों खड़े हो?"

यह सुनते ही झण्डूदत्त जी चौंक पड़े। सामने दृष्टि गयी तो देखा कि एक तेजोमयी चेहरे वाले महात्मा खड़े हैं।

झण्डूदत्त जी ने अपने मन की सारी व्यथा उनके सामने खोलकर रख दी- "मैं प्रतिदिन विद्यालय के द्वार तक जाता हूँ, किन्तु जैसे ही अन्दर प्रवेश करने की कोशिश करता हूँ, कोई अलौकिक शक्ति मुझे रोक देती है। आज नौवाँ दिन है। प्रत्येक दिन मुझे द्वार के बाहर से लौटना पड़ा है। मेरी समझ में नहीं आता है कि मैं क्या करूँ?"

यह सुनकर महात्मा जी ने कहा- "तुम लौकिक

विद्या प्राप्त करके भी क्या करोगे? शान्ति का मूल तो अध्यात्म विद्या में है। यदि तुम पुरी जाकर जगन्नाथ जी का दर्शन करो, तो तुम्हें अवश्य ही अध्यात्म विद्या प्राप्त हो जायेगी।"

यह कहकर महात्मा जी अदृश्य हो गये। झण्डूदत्त जी ने उनको चारों ओर खोजा, लेकिन उनका कहीं भी पता नहीं चला।

महात्मा जी के इन वचनों ने झण्डूदत्त जी के निराश मन में अलौकिक आशा का संचार कर दिया। अब उनका लक्ष्य स्पष्ट था कि आगे क्या करना है।

यद्यपि मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है, किन्तु यदि वह प्रियतम परब्रह्म को पाने की राह पर चल देता है तो उसकी स्थिति वैसी ही हो जाती है, जैसे रंगमंच पर



अभिनय करने वाली कठपुतली की। जिस प्रकार कठपुतली की प्रत्येक क्रिया की डोर छिपे हुए बाजीगर के हाथ में होती है, उसी प्रकार आत्मा की डोर भी परब्रह्म के ही हाथ में होती है।

झण्डूदत्त जी ने अब पुरी जाने का दृढ़ निश्चय कर लिया। प्रस्थान करने से पूर्व वे गंगा-स्नान के लिये गये। अभी वे स्नान कर ही रहे थे कि एक पण्डा आ धमका.....।

"आप तो मेरे ही यजमान हैं। आपका सारा क्रियाकाण्ड मैं ही कराऊँगा।"

"नहीं! नहीं! मुझे कुछ भी नहीं कराना है। मैं तो मात्र स्नान करने के लिये आया हूँ।"

"भला यह कैसे हो सकता है? पुण्य सलिला गंगा

जी में स्नान करने के बाद तो श्राद्ध-तर्पण और दान-दक्षिणा अवश्य ही करनी चाहिए।"

"नहीं, मुझे कुछ भी नहीं करना है।"

"भोले यजमान! आप मना मत कीजिए। आप प्रेमपूर्वक चन्दन लगवाइये।"

यह कहकर उसने माथे पर चन्दन लगाया। साथ ही साथ कुछ श्लोक और मन्त्र भी पढ़ता जाता था। थोड़ी देर में उसका पाठ बन्द हुआ और दक्षिणा की माँग शुरू हो गयी, बोला- "यजमान! इस पवित्र नगरी में गंगा-स्नान करके दान करने का पुण्य बहुत अधिक होता है। आपको एक रुपया तो कम से कम अवश्य ही दक्षिणा में देना चाहिए।"

उसके बार-बार के आग्रह पर झण्डूदत्त जी ने एक

रूपया उसे दे दिया। वह खुश होकर चला गया। यह रूपया उन्होंने उन पाँच रूपयों में से दिया , जो उस अंग्रेज अधिकारी ने दिलवाये थे।

यात्रा के लिये झण्डूदत्त जी ने ढाई रुपये का एक कम्बल खरीदा। चार आने भोजन आदि में खर्च हो गये। वे प्रतिदिन दो पैसे का चना खरीदकर खाया करते थे। अब उनके पास केवल सवा रुपये ही बचे थे, जिसे लेकर वे पैदल ही पुरी के लिये चल पड़े।

एक वैष्णव महात्मा को भनक लग गयी कि इनके पास पैसा है। उसने अपने मन में विचारा कि यदि मैं इनके साथ रहता हूँ, तो मुझे कोई भी कष्ट नहीं होगा। यह सोचकर वह झण्डूदत्त जी से बोला – "ब्रह्मचारी जी! क्या तुम किसी यात्रा पर जा रहे हो?"

"जी! मेरी इच्छा है कि पुरी जाकर जगन्नाथ जी के दर्शन करूँ।"

"यह तो बहुत ही अच्छी बात है। मुझे भी पुरी जाना है। हम दोनों का साथ अच्छा रहेगा।"

"मेरे पास ये सवा रुपये बचे हैं। आप इन्हें रखिए और जहाँ भी आवश्यकता हो, खर्च किया कीजिए।"

उस वैष्णव महात्मा ने पैसे रख लिये। पुरी की यात्रा प्रारम्भ हो गयी। सोलह दिन की यात्रा के पश्चात् सवा रुपये खत्म हो गये। अब भला महात्मा जी क्यों साथ चलते? झण्डूदत्त जी से नजर बचाकर वे नौ-दो-ग्यारह हो गये।

इस स्वार्थमयी संसार में जल और दूध जैसी मित्रता किसी विरले को ही प्राप्त होती है। अधिकतर मनुष्य तो

## गिरगिट की तरह रंग बदलते रहते हैं।

झण्डूदत्त जी अपनी इस तीर्थ यात्रा में बस्ती से दूर ही रहते थे। वृक्षों के नीचे ही पूरी रात कट जाया करती थी।

चलते-चलते गया के पास का क्षेत्र आ गया। सन्ध्या के समय उन्हें एक आश्रम दिखायी पड़ा। झण्डूदत्त जी ने सोचा कि आज इस आश्रम के बाहर ही अपनी रात्रि बिता लेंगे।

उन्होंने कुछ लकड़ियाँ एकत्रित की और उसे जलाने के लिये आग लेने हेतु आश्रम के अन्दर पधारे। वहाँ उनकी भेंट एक महात्मा से हुई। झण्डूदत्त जी ने उनको सादर प्रणाम किया।

महात्मा जी ने पूछा— "आपका क्या नाम है?"

"झण्डूदत्त।"

"कहाँ के रहने वाले हैं?"

"महाराज! उत्तर प्रदेश के सहारनपुर जिले में एक गाँव पड़ता है जड़ौदा। मैं वहीं का रहने वाला हूँ।"

यह सुनते ही महात्मा जी को बहुत हर्ष हुआ। उन्होंने झण्डूदत्त जी को अन्दर आने का संकेत किया तथा अपने पास एक आसन पर बैठाया। बहुत ही गदगद स्वर में महात्मा जी कहने लगे— "मैं भी उत्तर प्रदेश का रहने वाला हूँ। सामाजिक सम्बन्धों की दृष्टि से तुम मेरे भाई लगते हो। मैं चिमाऊ का रहने वाला हूँ। अच्छा, यह तो बताओ कि तुम इधर कैसे आ गये?"

झण्डूदत्त जी ने उन्हें अपना सम्पूर्ण वृत्तान्त सुना दिया कि किस प्रकार उनके हृदय में वैराग्य पैदा हुआ

और उन्होंने किस प्रकार गृह का त्याग कर दिया।

यह बात सुनकर महात्मा जी ने झण्डूदत्त जी का बहुत सत्कार किया। उनके पास एक सिद्ध किया हुआ कमण्डल था। उसकी विशेषता यह थी कि चाहे उसमें से कोई कितना ही भोज्य पदार्थ निकालता रहे, वह कभी खाली नहीं हो सकता था। भोजन कर लेने के पश्चात् उसे पुनः धूने (राख) में दबा दिया जाता था।

महात्मा जी ने झण्डूदत्त जी को धूने में पकाया हुआ भोजन कराया। उसका स्वाद बहुत अधिक था। रात सुखपूर्वक बीती। प्रातःकाल जब झण्डूदत्त जी वहाँ से चलने लगे, तो उस महापुरुष ने उन्हें सिखापन के रूप में बहुत ही अच्छी बातें बतायीं।

उन्होंने स्नेह भरे शब्दों में कहा – "भाई! यदि तुम

साधना का सच्चा आनन्द लेना चाहते हो, तो इन चार बातों का ध्यान रखना। पहली बात तो यह है कि तुम अपनी सामान्य आवश्यकता से अधिक कभी भी वस्त्र आदि का संग्रह न करना। दूसरी बात है कि हमेशा ही सच्चे महात्माओं की संगति में रहना। दो अन्य महत्वपूर्ण बात यह है कि स्त्रियों के हाथ से कभी भी दूध, दही, गुड़, और पान न लेना। यदि कोई स्त्री अकेले में भोजन करने के लिये घर पर बुलाती है, तो भूलकर भी न जाना।"

इन अनमोल वचनों को शिरोधार्य करके झण्डूदत्त जी वहाँ से चल दिये। रास्ते में उन्होंने अपनी धोती के दो टुकड़े कर लुँगी बना ली। कुर्ते को फाड़कर लँगोटी बना ली। अपने पास केवल कम्बली रखी। शेष सब कुछ जूता, कोट, लोई आदि बाँट दिया। इस विरक्त भेष में वे



झण्डूदत्त से महाराज के रूप में सुशोभित होने लगे।

अनावश्यक संग्रह अध्यात्म की राह में बहुत बड़ी बाधा है, क्योंकि इससे मोह पैदा होता है, जो माया का ही स्वरूप है।

उस महापुरुष के सिखापन से झण्डूदत्त जी बन्धन-मुक्त हो गये और निश्चिन्त होकर यात्रा पर चल पड़े। यात्रा में दिनों-दिन उनके मन में अपने प्रियतम परमात्मा के प्रति निष्ठा बढ़ती गयी। रात का समय वृक्षों के नीचे बीत जाया करता।

एक बार प्रहर भर रात्रि बीत गयी थी। वे एक बरगद के पेड़ के नीचे बैठे हुए थे। दूर से ऐसी मधुर आवाज आयी, जैसे कोई भजन गा रहा हो।

महाराज जी ने अपने मन में सोचा- "लगता है वहाँ

पर कोई महात्मा भजन गा रहा है। मैं उसके पास चलूँ। यदि वह साथ-साथ चलता है, तो मेरा सौभाग्य होगा। दिन तो यात्रा में कट जायेगा और रात्रि सत्संग में व्यतीत हो जाया करेगी।"

यह सोचकर वे उस स्थान पर पहुँचे, जहाँ पर गायन हो रहा था। उनके वहाँ पहुँचते ही लालटेन का प्रकाश बुझ गया तथा गायन भी बन्द हो गया। स्वागत में ईंटों के टुकड़ों की बौछार सहनी पड़ी।

इस स्थिति को महाराज जी तुरन्त ही भाँप गये। उन्हें यह समझने में जरा भी देर नहीं लगी कि गायन की आवाज किसी महात्मा की न होकर महिला की थी, जिसने एकान्त के कारण उनसे भयभीत होकर ईंटों का प्रहार शुरू कर दिया।

महाराज जी को अपनी इस भूल पर बहुत ग्लानि हुई। वापस आकर उन्होंने अपने दोनों हाथों से अपने गालों को पीटना शुरू कर दिया। उन्होंने यह दृढ़ प्रतिज्ञा की कि भविष्य में वे कभी भी किसी के यहाँ बिना बुलाये नहीं जायेंगे।

पुनः वे अपने मन को फटकार कर कहने लगे— "रे मन! तुम्हारे वशीभूत होने के कारण ही मुझे वहाँ जाना पड़ा। बँगालिन के हाथों से मेरे ऊपर पत्थर फिकवाने से तुझे क्या मिला? तू अब मेरे अधीन रहेगा। मैं कदापि तुम्हारी अधीनता में नहीं रह सकता। अब तू सावधान हो जा। मैं तुम्हारी सम्पूर्ण मायावी चाहनाओं को समाप्त कर दूँगा। अब तो यह स्पष्ट है कि हम दोनों में से केवल एक का ही वर्चस्व रहेगा।"

इस प्रकार महाराज जी प्रातःकाल के पाँच बजे तक

अपने मन को धिक्कारते रहे। भोर होते ही अपना कम्बल लेकर वहाँ से चल पड़े।

अब तक उन्होंने किसी को भी गुरु नहीं बनाया था। पैतृक संस्कारोंवश हृदय में शिव की भक्ति थी। वे एकमात्र उन्हीं का ध्यान किया करते थे।

एक बार आधी रात के समय वे ध्यान में बैठे थे। अचानक उन्हें ऐसा लगा कि जैसे कोई उनकी बाँह पकड़कर मरोड़ रहा हो। उन्होंने बाँह मरोड़ने वाले को दायें-बायें चारों ओर देखा , लेकिन कहीं भी कुछ दिखायी नहीं पड़ा।

अचानक ही चारों ओर तीव्र प्रकाश फैल गया। विद्युत की चमक की तरह उस तेज पुञ्ज के बीच में से एक दिव्य पुरुष दिखायी पड़ा। बायें हाथ में मरोड़ने की

पीड़ा अभी भी हो रही थी।

उस दिव्य पुरुष ने गम्भीर आवाज में कहा— "आप मुझसे वैराग्य की दीक्षा ले लीजिए।"

महाराज जी ने उत्तर दिया— "मुझे ऐसा कोई भी योग्य व्यक्ति नहीं दिखायी देता, जिसे मैं अपना गुरु बना सकूँ। बिना पूर्ण जानकारी के किसी को भी गुरु नहीं बनाना चाहिए।"

यह सुनते ही दिव्य पुरुष अन्तर्धान हो गये। उस समय महाराज जी को भी ऐसा अनुभव हुआ कि जैसे वे अपनी बाँह को उनकी पकड़ से मुक्त करा चुके हैं।

इस विचित्र घटना के पश्चात् झण्डूदत्त जी सोचने लगे कि मेरी बाँह मरोड़ने वाली शक्ति कौन सी थी? कम से कम, उन्हें यह बताना तो चाहिए था कि मैं किसको

गुरु करूँ? इस चमत्कार में अवश्य ही कोई न कोई रहस्य छिपा हुआ है। प्रातःकाल होते ही वे वहाँ से चल पड़े। दो दिन की यात्रा के पश्चात् वे एक कुटिया में पहुँचे।

उस समय सन्ध्या का समय था। कुटिया के आस-पास कई साधुओं के आसन लगे हुए थे। उनके साथ एक सन्यासिनी माता भी थी। महाराज जी उनके पास पहुँचे और बहुत विनम्रतापूर्वक बोले— "माता जी! आप सभी कहाँ की यात्रा पर हैं।"

"हम लोग जगन्नाथ जी की यात्रा पर जा रहे हैं।"

"यदि मुझे भी अपने साथ रख लें, तो बहुत ही अच्छा हो।"

"तुम प्रतिदिन कितने मील पैदल चल लेते हो?"

"लगभग सत्रह मील।"

"हम लोग तो बड़ी कठिनाई से तीन मील ही चल पाते हैं। ऐसी स्थिति में हमारा -आपका साथ नहीं चल पायेगा।"

"आपके साथ वाले महात्मा लोग कहाँ गये हैं?"

"वे लोग बस्ती में भिक्षा लेने के लिये गये हुए हैं।"

कुछ समय के पश्चात् साधु लोग भिक्षा लेकर आ गये। महाराज जी ने उन्हें श्रद्धापूर्वक प्रणाम किया और बोले- "मेरी इच्छा है कि मैं आप लोगों के साथ ही यात्रा करूँ। अकेले यात्रा में बहुत कष्ट होता है।"

"यह तो बहुत ही खुशी की बात है कि आप हमारे साथ यात्रा करें। कल सवेरे ही आप हमारे साथ प्रस्थान करें।"

इतना कहकर उन्होंने महाराज जी को खाने के

लिये थोड़ी सी खिचड़ी भी दी। उन्होंने यह भी कह दिया कि यदि आप चाहें तो हमारे पास ही अपना आसन भी लगा लीजिए।

सच्चा साधु वही है, जिसने अपनी जिह्वा को जीत लिया है और सभी अवस्थाओं में हमेशा खुशहाल रहता है। वह सुख-दुःख, मान-अपमान सबको एक ही दृष्टि से देखता है।

प्रातःकाल ही उस साधु मण्डली के साथ महाराज जी यात्रा पर चल पड़े। सन्ध्या काल होने पर सभी एक ग्राम में भिक्षा माँगने गये।

भिक्षा देने वाले सेठ ने चार महात्माओं में से मात्र दो के लिये ही भिक्षा दी। झण्डूदत्त जी अपने साथ एक अन्य महात्मा को लेकर आगे बढ़ गये, ताकि उस



सन्यासिनी माता और साथ के महात्मा जी को भिक्षा मिल जाये।

रास्ते में एक खेत में आलू की खुदाई हो रही थी। खेत के स्वामी उस किसान ने उन्हें आदरपूर्वक बहुत अधिक मात्रा में आलू दिया। उस आलू को उबालकर महाराज जी ने साथी महात्मा के साथ भोजन किया तथा थोड़ी मात्रा में सन्यासिनी माता के लिये बचा भी लिया।

थोड़ी ही देर में वह सन्यासिनी आ धमकी और झण्डूदत्त जी के साथी महात्मा को चलने का आग्रह करने लगी। उस महात्मा जी ने जाने से साफ मना कर दिया और बोले— "मेरा तुम्हारा अब कोई भी सम्बन्ध नहीं है। मैं तुम्हारे साथ नहीं रह सकूँगा। मुझे इस बारे में और कुछ ज्यादा नहीं कहना है।"

महात्मा जी के इन वचनों को सुनकर वह माता बहुत दुःखी हो गयी और वापस लौटकर उसने यात्रा का अलग ही मार्ग पकड़ लिया। सूर्योदय तक झण्डूदत्त जी तथा उनके साथी महात्मा ने उस माता के आने की बाट देखी। उसके न आने पर, दोनों यात्रा पर निकल पड़े।

कुछ ही दूर आगे जाने पर साधू और माता मिल गये, लेकिन महाराज जी के साथी महात्मा ने उस साधू से कोई भी बात नहीं की।

सभी दो वर्गों में होकर जा रहे थे। एक जगह सभी ठहर गये। वहाँ पर सन्यासिनी माता अपने साथी महात्मा के लिये भोजन लेकर आयी, लेकिन उन्होंने भोजन करने से इन्कार कर दिया। माता इस बात से बहुत दुःखी हुई और वह भोजन कुत्तों को दे दिया।

आज माता को भोजन किये हुए तीन दिन हो गये थे। तीन दिनों से महात्मा जी भोजन कर ही नहीं रहे थे, इसलिये वह भी नहीं खा पा रही थीं। माता ने तो प्रण ही कर रखा था कि जब तक महात्मा जी भोजन नहीं करेंगे, तब तक वह भी ग्रहण नहीं करेंगी।

वहाँ से चल करके सभी खड्गपुरी पहुँचे, जो बँगाल का एक प्रतिष्ठित गाँव है।



## (६)

सभी साधु-महात्माओं के अन्दर बंगाल की होली देखने की इच्छा हुई। महाराज जी ने भी एक साधु से कमण्डल लिया और एक से चिमटा। होली देखने की इच्छा से वे भी साधुओं के साथ खड़गपुर पहुँचे।

उनके साथ वाले महात्मा को बुखार था। उनकी सेवा के लिये उस सन्यासिनी माता को साथ में छोड़ दिया गया तथा शेष सभी महात्मा खड़गपुर आ गये।

इधर महात्मा जी को इतना तेज बुखार चढ़ा कि वे बेहोश हो गये। माता को अवसर मिल गया। वह बेहोशी की अवस्था में ही रेल द्वारा उन्हें अलिन्द्रा ले गयी, जो खड़गपुर से साठ कि.मी. की दूरी पर था। वह विरक्त महात्माओं से घबराया करती थी। अपना अकेलापन

मिटाने के लिये वह किसी न किसी महात्मा की सामीप्यता चाहती थी।

त्रिगुणातीत प्रेम मनुष्य को भवसागर से पार कराता है, किन्तु लौकिक प्रेम मोह संसार-सागर में भटकाता रहता है।

जब होली का कार्यक्रम देखकर साधुजन वापस आये, तो देखा कि दोनों नदारद थे। चारों ओर उनकी खोज की गयी। आखिर में एक व्यक्ति ने बताया कि वे दोनों अलिन्द्रा जाने वाली गाड़ी में गए हैं।

महाराज जी पैदल ही अलिन्द्रा के लिये चल पड़े। उन्होंने उस महात्मा का कमण्डल लिया हुआ था, जिसे वापस करना अति आवश्यक था।

**वस्तुतः जन्म के आधार पर किसी को भी पण्डित**

नहीं कहा जा सकता। वास्तविक पण्डित तो वही है, जो दूसरों के धन को मिट्टी के समान और दूसरों की पत्नी को माँ के समान माने।

महाराज जी तीन दिन पैदल चलकर अलिन्द्रा पहुँच गये। दोनों ही रेलवे स्टेशन पर मिल गये। महाराज जी को देखते ही महात्मा जी बोल पड़े—

"महाराज! सन्यासिनी के भेष में यह दुष्टा है। जब मैं बेहोश था, तो यह धोखे से मुझे यहाँ लायी है। मैंने भी यह प्रण कर रखा था कि मैं अन्न—जल उसी समय ग्रहण करूँगा, जब आपसे मेरी भेंट होगी।"

"कोई बात नहीं! यह तो अच्छा ही हुआ कि आप रेल से आ गये, नहीं तो पैदल चलने में आपको बहुत कष्ट होता। एक तो आप भोजन नहीं करते, दूसरा बुखार

ने आपको शक्तिहीन कर दिया है। आप अपना यह कमण्डल स्वीकार कीजिए और कुछ भोजन भी ग्रहण कीजिए।"

महाराज जी के आग्रह पर उन्होंने उस दिन हल्का सा आहार लिया और अगले दिन गुमनाम दिशा की ओर चल दिये। वे कहाँ जा रहे हैं और किससे मिलने जा रहे हैं, इसके विषय में उन्होंने कुछ भी नहीं बताया।

उस महात्मा के रूप में महाराज जी को एक सच्चा साथी मिला था, लेकिन उस सन्यासिनी माता की हरकतों ने उनका साथ छुड़वा दिया।

सन्यासिनी माता ने महाराज जी से आग्रह किया कि जगन्नाथ जी की यात्रा में वे अपने साथ उन्हें भी रख लेवें, किन्तु महाराज जी ने स्पष्ट रूप से कह दिया—

"हे माता! आज तो आप हमारे साथ हैं ही। आपको यदि अन्य सन्यासिनी माताओं की टोली मिल जाये, तो आप उनकी संगति कर लीजिएगा। आपका साधु – महात्माओं के साथ रहना अनुचित है।"

अब महाराज जी ने पुनः यात्रा प्रारम्भ की। तीन दिन के बाद एक विचित्र सी घटना घटी। शाम के समय सभी लोग एक बस्ती के बाहर अपना डेरा जमाए ही थे कि चारों ओर घने बादल छा गये। थोड़ी ही देर में हल्की वर्षा शुरू हो गयी। अब भला वहाँ कौन ठहरता?

सन्यासिनी और साधु कहने लगे – "अब तो हम बस्ती में ही ठहरेंगे। हमसे वर्षा के समय पेड़ के नीचे नहीं रहा जायेगा।"

यह कहकर वे लोग अपना-अपना सामान लेकर



वहाँ से भाग निकले। साथ में वे महाराज जी की गीता भी लेकर चलते बने, ताकि वे हमें कहीं छोड़कर न चले जायें।

उन लोगों के जाते ही घनघोर वर्षा प्रारम्भ हो गयी। नागिन की भयंकर जिह्वा की तरह से बिजली लपलपा रही थी। महाराज जी एक पेड़ के नीचे सिकुड़ कर बैठे रहे। उनके ऊपर वर्षा की फुहारें गिरती रहीं।

बिजली की चमक के प्रकाश में उन्हें एक विशालकाय पेड़ के अन्दर खोखला सा स्थान दिखायी पड़ा। वे उसी में जाकर बैठ गये। प्रातःकाल होने तक वे उसी में बैठे रहे। साधुओं की मण्डली उन्हें खोजते हुए आयी, लेकिन कोई भी उन्हें ढूँढ नहीं सका।

अब दिन निकल आया था। सूर्य का प्रकाश चारों

ओर फैल रहा था। कुछ देर तक तो झण्डूदत्त जी ने उस साधु और माता की राह देखी, लेकिन जब वे नहीं आये तो अपनी धर्म यात्रा के पथ पर अकेले ही चल पड़े।

आज की यात्रा में कोई भी साथ में नहीं था। इसलिये निर्द्वन्द्व होकर उन्होंने थोड़ी ही देर में लम्बी दूरी तय कर ली और मेदिनीपुर जा पहुँचे।

उस गाँव की बाहरी सीमा में एक आश्रम था। उसका संचालन एक ब्रह्मचारी जी किया करते थे। आश्रम के बाहर साधुओं की एक मण्डली ठहरी हुई थी।

महाराज जी ने भी उस आश्रम के बाहर अपना आसन जमाया और अपने लिये खिचड़ी पकाने लगे। अभी खिचड़ी बन भी नहीं पायी थी कि एक महात्मा जी आये और बोले— "महाराज! क्या मुझे भी भोजन

कराओगे?"

यह वाक्य उन्होंने दो बार कहा। उनके व्यवहार में जरा भी भय या संकोच नहीं था।

महाराज जी उस महात्मा के प्रति आकर्षित हुए बिना न रह सके। उन्होंने स्नेह भरे शब्दों में कहा – "आप ऐसा क्यों कह रहे हैं? सब कुछ आपका ही है।"

यह सुनकर महात्मा जी पत्तल लाने चले गये। उनका व्यक्तित्व आकर्षक था। वैराग्य के वे प्रतिमान स्वरूप थे। वस्त्र के नाम पर कमर में मात्र एक लंगोटी ही थी और ओढ़ने के लिये कम्बल का एक छोटा सा टुकड़ा। सिर पर जटायें थीं और पूरे शरीर पर राख। शरीर बहुत अधिक स्वस्थ था।

उनके आने तक खिचड़ी तैयार हो गयी। महाराज

जी ने पत्तल पर सारी खिचड़ी रख दी और उनकी ओर सरकाकर बोले— "महात्मा जी! अब भोजन प्रारम्भ कीजिए।"

"गुरुदेव! आप भी तो हमारे साथ भोजन करें।"

"आप हमें गुरु कहकर क्यों शर्मिन्दा करते हैं ? अपने लिये ऐसे शब्द सुनकर हमें लज्जा आती है। 'गुरु' पद के योग्य तो आप ही हैं।"

उस अवधूत महात्मा ने बहुत ही स्नेह से महाराज जी का हाथ पकड़ा और अपने साथ खाने के लिये विवश कर दिया। दोनों एक ही पत्तल में से खाने लगे।

महाराज जी के हाथ से जो कोई जूठा दाना गिर जाता, तो वे महात्मा उसे तुरन्त ही उठाकर खा लेते थे। यह देखकर महाराज जी ने भी उनके हिस्से में से खाना

शुरु कर दिया।

दोनों ने बहुत ही प्रेम से भोजन किया। यद्यपि भोजन थोड़ा ही था, फिर भी दोनों तृप्त हो गये।

भोजन बाँट करके ही खाना चाहिए, अकेले खाने वाला तो निरा पाप खाता है। कुत्तों का पेट इसलिये कभी नहीं भरता, क्योंकि वे हमेशा छीन-झपटकर अकेले ही खाने की कोशिश करते हैं।

भोजन के पश्चात् उन्होंने पूछा— "आप कहाँ जायेंगे?"

"मैं तो जगन्नाथ जी के दर्शन करने पुरी जा रहा हूँ।"

"मैं भी आपके साथ चलना चाहता हूँ।"

महाराज जी तो यात्रा का साथी चाहते ही थे, तुरन्त स्वीकृति दे दी।

अभी उन दोनों में बात चल ही रही थी कि उस आश्रम के संचालक ब्रह्मचारी जी आ गये और सभी महात्माओं को सम्बोधित करते हुए बोले— "महात्मा जनों! धूनी जलाने के लिये लकड़ी की आवश्यकता आप सभी को रहती ही है। राजा के लिये बैलगाड़ियों में लकड़ी भरकर ले जायी जा रही है। यदि आपमें से कोई ऐसा हो जो उन गाड़ियों में से थोड़ी-थोड़ी लकड़ी उतरवा ले, तो आश्रम में सेवा भी होगी और आप लोगों का भी काम चलेगा।"

यह सुनते ही सबके होंठ सिल से गये, जैसे उन्हें लकवा मार गया हो। इसके पहले उनमें शोर मचा हुआ था।

सबको चुप देखकर अवधूत महात्मा जी ने महाराज जी से पूछा— "गुरुजी! यदि आपकी आज्ञा हो, तो यह

काम मैं ही कर दूँ। आप जितनी कहिए, उतनी लकड़ियाँ गाड़ी से उतरवा लूँ।"

"यह काम तो केवल आप ही कर सकते हैं। इन महात्माओं में ऐसा करने की शक्ति नहीं है। आपकी कृपा से यदि आश्रम में लकड़ियाँ आ जाती हैं, तो इससे बहुत यश और परोपकार होगा। राजा के पास भला किस चीज की कमी है?"

यह बात सुनते ही अवधूत महात्मा चिमटा उठाकर भागे और पहली गाड़ी के आगे खड़े हो गये। वे तेज आवाज से डाँटते हुए बोले— "ए गाड़ी वाले साले! आश्रम का कर चुकाये बिना भागा जा रहा है। महात्माओं के लिये एक मोटी लकड़ी चुपचाप रखते जाओ।"

वैराग्य से भरपूर उनके तेजस्वी व्यक्तित्व और

ओजस्वी वाणी से प्रभावित होकर सभी गाड़ीवान एक-एक लकड़ी उतारकर रखने लगे। अवधूत अपनी धुन में थे। जो भी सामने आता उसको गाली दे देते, लेकिन कोई बुरा नहीं मानता था।

उस जुत्थ में लगभग १०० गाड़ियाँ थीं। जब आखिरी गाड़ी आयी, तो आशीर्वाद के रूप में अवधूत ने उसे भी गाली सुना दी।

गाड़ीवान ने उनकी गाली को अनसुना करते हुए गाड़ी नहीं रोकी तथा लकड़ी भी नहीं दी। उसकी इस हरकत पर अवधूत ने गालियाँ देते हुए कहा— "साले! तू बिना चुँगी दिये ही जा रहा है। मैं अभी आकर तुझे ठीक करता हूँ। तू राजा का नौकर होने से घमण्ड में है। मुझे कुछ भी नहीं समझता। यदि तू यहाँ से चला जाए, तो मैं भी अपना नाम बदल लूँगा।"



यह कहकर उन्होंने एक चिमटा उसकी गाड़ी पर दे मारा और एक हाथ से ही गाड़ी को पकड़ लिया।

अब गाड़ीवान बैलों पर डण्डे बरसाने लगा ताकि वे जल्दी चलें, लेकिन गाड़ी एक इंच भी टस से मस नहीं हुई। गाड़ीवान बैलों को मार-मार कर थक गया। बैलों की सारी शक्ति निरर्थक हो गयी।

अवधूत ने बोलना शुरू किया – "साले! ले जा गाड़ी। मैंने पहले ही कह दिया था कि बिना चुँगी दिये मैं गाड़ी को नहीं जाने दूँगा। जैसे ये बैल शक्तिहीन हुए हैं, वैसे ही तुम भी हो जाओगे।"

इस प्रकार की विचित्र लीला देखकर गाड़ीवान घबरा गया। वह गाड़ी से उतरकर उनके चरणों में गिर पड़ा और हाथ जोड़कर गिड़गिड़ाते हुए कहने लगा—

"मुझसे बहुत बड़ी गलती हुई है। मुझे क्षमा कर दीजिए। आप जिस भी लकड़ी को कहेंगे, मैं उसे ही उतार दूँगा। यदि आप सम्पूर्ण गाड़ी के लिये कहेंगे, तो सारी गाड़ी भी खाली कर दूँगा।"

अवधूत जी बोले— "तू तो महात्माओं से टक्कर लेता फिरता था। तुमने हमें भिखमंगा समझ रखा था। यदि तुम थोड़ी देर और अड़ जाते, तो तुम्हें उसका मजा चखने को मिल जाता। जाओ! तुम्हें क्षमा किया, लेकिन एक सजा है कि यहाँ से जब भी गुजरो, आश्रम के लिये भेंट में लकड़ी देकर जाया करो।"

महात्मा जी ने महाराज जी से पूछा— "गुरुदेव! अब आपकी जो आज्ञा हो, मैं वही करूँगा। यदि लकड़ी की कमी हो, तो फिर उगाहना शुरू करूँ।"

"नहीं अब कोई आवश्यकता नहीं है। इन सबको जाने दीजिए।"

"गुरुदेव! मैं तो चाहता हूँ कि इनसे एक - एक लकड़ी और ली जाये।"

ब्रह्मचारी जी बोल उठे- "नहीं महाराज! अब आप गाड़ी वालों को आज्ञा दीजिए कि वे चले जायें।"

अवधूत बाबा ने गाड़ी वालों को सम्बोधित करते हुए कहा- "राजा के घमण्ड में साले अकड़े जा रहे थे। इन्हें पता ही नहीं था कि किसी फक्कड़ से पंगा लेने का फल क्या होता है? अच्छा! अब तुम जाओ, लेकिन ध्यान रहे कि जब भी इधर से गुजरो, आश्रम की सेवा में लकड़ी देकर ही जाया करो।"

अवधूत बाबा के इतना कहते ही सभी गाड़ी वाले

भाग चले। अब अवधूत साधुओं की तरफ मुड़े और ललकारते हुए बोले— "खड़िया पल्टन! उठ जाओ और एक-एक लकड़ी उठाकर आश्रम के अन्दर रख दो।"

उनका आदेश सुनकर सारे साधु खड़े हो गये और एक-एक लकड़ी उठाकर आश्रम में रखने लगे। थोड़ी-सी लकड़ी साधुओं के लिये छोड़कर, शेष सारी लकड़ी आश्रम के अन्दर रख दी गयी। ब्रह्मचारी जी ने उन महात्माओं को बहुत अधिक धन्यवाद दिया।

अगले दिन अवधूत ने महाराज जी से कहा— "गुरुजी! यदि आपकी आज्ञा हो तो राजा से मिल लेवें, लेकिन आपको साथ में चलना पड़ेगा।"

"मिलने में कोई हर्ज नहीं है। चलिये, मैं भी चलता हूँ", कहकर महाराज जी भी उनके साथ चल पड़े।

राजमहल में पहुँचकर उन्होंने देखा कि वहाँ पर लगभग पच्चीस साधु पड़े हुए हैं। वहाँ एक पहरेदार ने पूछा— "क्यों बाबा जी! यदि भोजन करने की इच्छा है, तो बैठ जाइए।"

कड़कती हुई आवाज में अवधूत ने उत्तर दिया— "क्या हम यहाँ भीख माँगने आये हैं? जाओ! राजा को खबर कर दो कि गुरु जी आये हैं। साथ में पच्चीस और साधु भी हैं। सभी के लिये भोजन और दक्षिणा का शीघ्र प्रबन्ध किया जाये। राजा का क्या उत्तर है, इसकी मुझे शीघ्र ही सूचना मिलनी चाहिए। यह ध्यान रखना कि यदि देरी हुई, तो हम सभी यहाँ से चले जायेंगे।"

सन्देशवाहक ने अन्दर जाकर राजा को सारी सूचना दी। राजा ने सारी स्थिति को समझकर भोजन तथा दक्षिणा का तुरन्त ही प्रबन्ध कर दिया।

थोड़ी ही देर में एक व्यक्ति भोजन का सामान तथा पच्चीस रुपये दक्षिणा लेकर आया और अवधूत जी को देने लगा। अवधूत जी बोले— "हम इस दक्षिणा तथा भोजन का क्या करेंगे? यहाँ जितने भी साधु हैं, सबमें इसे बाँट दो।"

उनका इस प्रकार का व्यवहार देखकर सभी कर्मचारी तथा साधुजन आश्चर्य में थे।

साधु लोग सोचने लगे कि हम लोग यहाँ सवेरे से ही पड़े हुए थे, लेकिन किसी ने कुछ भी नहीं पूछा। इनके कारण ही हमें सम्मानपूर्वक भोजन मिला तथा दक्षिणा भी मिली। हम क्यों न इन्हीं की संगति में रहें?

जब अवधूत महाराज जी के साथ चलने लगे, तो महात्माओं की सारी जमात भी उनके साथ चलने लगी।

अवधूत जी हमेशा ही महाराज जी से कहा करते—  
"आप मुझे सेवा के लिये आदेश क्यों नहीं देते ? आप भोजन में भी संकोच करते हैं। आपकी जो भी कुछ खाने की इच्छा हो, उसे बताइये। आपकी सौगन्ध! मैं अवश्य लाऊँगा।"

यात्रा करते-करते आठ दिन बीत गये थे। एक दिन वे किसी बस्ती के बाहर ठहरे। अवधूत ने महाराज जी से कहा— "मेरी इच्छा है कि मैं थोड़ी सैर कर आऊँ। यदि आपको कुछ मँगाने की इच्छा हो तो बताएँ।"

"नहीं मेरी कोई भी इच्छा नहीं है। आप घूम आइए।"

कुछ देर के बाद अवधूत जी लौट आये। उनके शरीर पर मीठा चिपका हुआ था। उस पर मक्खियाँ

भिनभिना रही थीं। उनकी शक्ल उस समय वनमानुष जैसी लग रही थी। आते ही वे महाराज जी से बोले— "आज तो हम मीठे का भोजन करके आये हैं।"

महाराज जी ने हँसते हुए कहा— "आपका भोजन करना भी विचित्र है। आपको देखने से तो ऐसा लगता है कि आपका सारा शरीर ही भोजन कर रहा है। आपके भोजन को ब्रह्मभोज कहें या मक्खी भोज?"

अवधूत जी विगत घटना का वर्णन करने लगे— "एक जगह एक बनिए ने शक्कर का ढेर लगा रखा था। मेरे अन्दर शक्कर खाने की तृष्णा जाग्रत हो गयी। मैंने इस शरीर को बहुत डाँटा, लेकिन यह साला मन नहीं रुक पाया। मजबूर होकर मुझे इस शरीर को बनिए के पास ले जाना पड़ा और कहना पड़ा कि इस शरीर को मीठा खिला। वह आधा पाव मीठा लाया। मैंने कहा कि ओ



बनिए! इस भीमकाय शरीर के लिये इतने थोड़े से काम नहीं चलेगा। क्यों तू आफत बुलाना चाहता है? मेरे इस त्रिशूल को जरा देख! मेरी इस बात पर उस बनिए को मन ही मन क्रोध सा आ गया। उसने शक्कर के ढेर की ओर इशारा कर दिया। मैंने उस ढेर से अपने शरीर को खूब रगड़ा। थोड़ी देर में मेरी चमड़ी को तृप्ति मिल गयी।

"गुरुदेव! मैं क्या करूँ? कभी-कभी यह साला शरीर नियन्त्रण से बाहर हो जाता है। इसको डाँटता तो बहुत हूँ, लेकिन पूर्णरूपेण वश में नहीं कर पाता हूँ।"

थोड़ी देर में वे सुल्फा दिखाकर कहने लगे— "एक बनिए से झटक लिया है। साला थोड़ा सा दे रहा था। जब मैंने उसे डाँटा, तो उसने इतना लाकर दे दिया। यदि आपकी इच्छा हो तो आप भी इसमें से थोड़ा सा ले लीजिए।"

महाराज जी बोले- "मैं इसे कभी नहीं पीता। यहाँ बहुत से साधु बैठे हैं, आप उन्हें ही दे दीजिए।"

"गुरु जी! भला इनको क्यों दूँ? ये सभी पेटू बाबा हैं। इनका पेट कभी भी भरने वाला नहीं है। मुझे और आपको खाकर भी ये भूखे के भूखे ही रहेंगे।"

अवधूत अपने ढंग के निराले ही थे। उनका रहन-सहन सबसे अलग था। यात्रा में यदि कभी जलती हुई चिता मिल जाती, तो वे तुरन्त उसके पास पहुँच जाते और उसको चिमटा मारकर कहते- "ओ साले जलने वाले! यदि मंगलवार तक मेरे पास नहीं आये, तो तुम्हें इसका फल चखाऊँगा।"

वे तान्त्रिक सिद्धियों में लगे रहते। कभी-कभी तो किसी चिता से मनुष्य की खोपड़ी ही उठा लाते।

महाराज जी के बहुत समझाने पर भी उनके स्वभाव में बदलाव नहीं आ पाता था।

एक बार सड़क के किनारे कोल्हू चलता हुआ मिल गया। अब तो सभी साधुओं के मन में मीठा खाने की इच्छा हो गयी। उन्होंने महाराज जी से प्रार्थना की— "गुरु जी! मीठा खाने की हमारी इच्छा है। हमें थोड़ा— थोड़ा दिलवा दीजिए।"

उनकी बात सुनकर महाराज जी ने अवधूत जी से कहा— "महात्मा जी! आपको थोड़ा सा कष्ट करना है।"

महाराज जी के ऐसा कहते ही अवधूत जी उनके बिल्कुल नजदीक आ गये और बोले— "हुक्म कीजिए, आपके आदेश का तुरन्त पालन होगा।"

"आज साधुओं को मीठा खाने की इच्छा है।"

"जो आज्ञा", कहकर वे तुरन्त ही कोल्हू पर जा पहुँचे। कोल्हू वाले को चिमटा दिखाते हुए वे बोले—  
"यहाँ जितने भी साधुजन बैठे हैं, उनको मीठा खिलवा दो।"

"मीठा तो अभी तैयार नहीं हुआ है। यदि आप कहें, तो सभी महात्माओं को एक-एक गन्ना दे देते हैं।"

"गन्ने की कोई आवश्यकता नहीं है। उन्हें तो मीठा ही चाहिए।"

"अच्छा हम सबको एक-एक गिलास रस पिलवा देते हैं।"

"जब मैंने कह दिया है कि हमें केवल मीठा ही चाहिए और कुछ नहीं, तो बार-बार क्यों बातें बनाते हो?"

"मीठा तो अभी तैयार ही नहीं हुआ है। कहाँ से हम मीठा लायें?"

"यह जो कड़ाह में उबल रहा है, इसमें से ही दे दो।"

"बाबा! तुम्हारी ताकत हो, तो तुम ही उसमें से ले लो। हमें खौलते कड़ाहे में जलकर मरना पसन्द नहीं।"

"इस मीठे साले को तो मैं ही निकालूँगा। मैं देखता हूँ कि यह किस-किस को मारता है।"

यह कहते हुए वे अचानक ही उस कड़ाहे में जा बैठे, जिसमें गन्ने का रस खौल रहा था। अपनी हथेली में उठा-उठाकर उस रस से उन्होंने नहाना शुरू कर दिया।

अवधूत जी को ऐसा भयंकर कार्य करते हुए देखकर सारे कोल्हू वाले भाग गये। उन्हें ऐसा लगा कि यह

महात्मा तो आत्महत्या ही करना चाहते हैं।

सभी लोग कोल्हू से सौ गज की दूरी पर खड़े थे और भय के मारे थर-थर काँप रहे थे। सबकी नजर उस चमत्कार पर ही लगी हुई थी। अचानक ही अवधूत जी ने आवाज लगायी— "गुरु जी! आ जाइए। साले, सभी भाग गये हैं। अब तो सारा माल हमारा ही है। जितनी इच्छा हो, इसमें से ले लीजिए।"

उनकी आवाज सुनकर महाराज जी साधुओं से तीन कमण्डल लेकर वहाँ पहुँच गये। उन्हें पास देखकर अवधूत बोले— "आपने देखा न! साले सभी भाग गये। आपकी यदि इच्छा हो, तो सारा मीठा ले लीजिए या आप स्वयं ही इन कमण्डलों को भर लीजिए।"

महाराज जी ने अपने तीनों कमण्डलों को मीठे से

भर लिया। अवधूत जी तो कड़ाह में बैठकर मीठे से नहाने में मस्त थे। उनके शरीर पर चाशनी लिपटी पड़ी थी, जिससे भाप उठ रही थी। उनकी उपमा ऐसी थी, जैसे कीचड़ में भैंसा लोट रहा हो।

महाराज जी को कमण्डलों में मीठा भरते देखकर कोल्हूवाले का एक आदमी आया और उनसे धीरे से बोला— "महात्मा जी! हम लोग बड़े ही गरीब आदमी हैं। आप तो सारा ही मीठा लेकर जा रहे हैं। आप हमारे ऊपर थोड़ी कृपा कीजिए।"

उसकी बात सुनकर अवधूत जी कड़ककर बोले— "जब ये साले रो रहे हैं, तो इनको एक कमण्डल वापस दे दीजिए। रोककर खिलाने वालों का भोजन पचता नहीं है।"

भय या लोभ से दिया हुआ दान वास्तविक दान नहीं है। यथार्थ में दान वही है, जो श्रद्धापूर्वक दूसरों के कल्याण की भावना से दिया जाता है। इसमें देने वाले के मन में जरा भी अहंकार की भावना नहीं रहती, बल्कि वह इस भावना से देता है कि "त्वदीयं वस्तु तुभ्यमेव समर्पये।"

महाराज जी ने एक कमण्डल मीठा कड़ाहे में वापस डाल दिया और शेष को लेते चले। अचानक ही अवधूत जी साधुओं पर बरस पड़े— "ओ पेटू के बच्चों! क्या तुम्हें दिखायी नहीं पड़ रहा है कि गुरु महाराज मीठा ढो रहे हैं। तुम लोग केवल खाना और पसरना ही जानते हो। सालों! जल्दी से आकर कमण्डल थामो।"

महाराज जी ने सारा मीठा साधुओं में बँटवा दिया। अवधूत जी के सम्पूर्ण शरीर में मीठा चिपका रहा। वे



बिना किसी परेशानी के अपनी राह पर चलते रहे। अगले दिन जब नदी मिली, तो उसमें नहाकर शुद्ध हुए।

सांसारिक सिद्धियों का प्रदर्शन ओछी हरकते हैं। परमार्थ या आत्म-कल्याण का इनसे कोई भी सम्बन्ध नहीं है। चमत्कार दिखाकर संसार के लोगों को बहकाना, डराना, या अपने मोह-जाल में फँसाना अपराध है। आत्म-कल्याण की राह में सिद्धियाँ बाधक हैं। सच्चे सन्त इन सिद्धियों से कोसों दूर रहते हैं।

एक दिन अवधूत ने महाराज जी से अपने मन की बात कह डाली- "गुरु जी! अब तो मैं आपको हमेशा अपने साथ ही रखूँगा और किसी भी स्थिति में अपने से अलग नहीं होने दूँगा।"

"यदि मैं न रहना चाहूँ, तो कैसे रखेंगे? जब मैं

जाना चाहूँगा, तो आप क्यों नहीं जाने देंगे?"

"आप मेरे पास कैसे नहीं रहेंगे? मुझे तो ऐसी जड़ी-बूटियों का ज्ञान है, जिनका सेवन कर लेने के पश्चात् आप मुझसे अलग होने का नाम ही नहीं लेंगे।"

उसकी ऐसी बात को सुनकर महाराज जी गम्भीर हो गये। उन्होंने अपने मन में विचारा कि जैसा यह कहता है, वैसा ही यदि इसने मुझे खिला दिया, तब तो मेरा सारा किया कराया ही मिट्टी में मिल जायेगा। तब मुझे तो इसके पीछे-पीछे घूमना पड़ेगा। क्या मैंने इसी दिन के लिये घर-द्वार छोड़ा है? अब तो भलाई इसी में है कि इससे जितनी जल्दी हो सके, उतनी जल्दी छुटकारा पा लिया जाये।

महाराज जी ने अपने मनोभावों को अवधूत से

छिपाये रखा।

अवधूत महात्मा का यह स्वभाव ही था कि जिस किसी चट्टी पर जाते, वहाँ प्रत्येक दुकानदार से एक छटाँक गाँजा माँगा करते थे। जब गाँजों की दुकान आयी, तो वे उसे लेने पहुँचे।

महाराज जी ने महात्मा जी से कहा— "आप गाँजा लेकर आ जाइएगा। मैं तब तक आगे चलता हूँ।"

अवधूत ने भी खुशी-खुशी सहमति प्रकट की— "आप चलिये, मैं गाँजा लेकर आता हूँ।"

कारुदास नामक एक महात्मा भी महाराज जी के साथ था। वह भी अवधूत के बन्धन से मुक्त होना चाहता था।

कारुदास अवधूत के हाथों से कई बार पिटते—

पिटते बचा था। उसके मन में अवधूत के प्रति बहुत अधिक भय समाया हुआ था।

महाराज जी कारुदास के साथ बहुत तेज कदमों से चले। दोनों ने अपने मन में अवधूत से अलग हो जाने का निर्णय कर लिया था।

थोड़ी ही देर में उन्होंने कई चट्टियाँ पार कर लीं। दोनों काफी आगे निकल चुके थे। उनके मन में जब यह विश्वास पैदा हो गया कि अब अवधूत हमें पकड़ नहीं सकेगा, तब वे एक नदी के किनारे रुके। वहाँ वे स्नान करके विश्राम आदि करना चाहते थे।

दोनों नदी के ऊपर बने हुए पुल के नीचे बैठे हुए थे। पुल पर से सड़क गुजरती थी। अभी वे स्नान आदि से निपटे भी नहीं थे कि उनके कानों में यह आवाज सुनायी

पड़ी- "साला कारुदास गुरु जी को लेकर भाग गया है। यदि वह मिल गया, तो मैं उसे मार-मार कर भुर्ता बना दूँगा।"

महाराज जी ने उसकी आवाज पहचान ली और कारुदास से बोले- "कारुदास! अब तो किया कराया सब चौपट हो गया। वह हम लोगों को खोजते-खोजते यहाँ पर आ पहुँचा है। यदि हम नहीं मिल पाये, तो वह और अधिक नाराज होगा। यदि तुम अपनी भलाई चाहते हो, तो स्वयं आवाज देकर उनको बुला लो।"

कारुदास के अन्दर भय की सिहरन दौड़ गयी। उसने घबराते हुए कहा- "यदि मैंने आवाज लगायी, तो चिमटा ही फेंककर मारेगा। आपकी अति कृपा होगी, यदि आप ही आवाज देकर उसे बुलायें।"

उसकी बात मानकर महाराज जी ने आवाज लगायी— "महात्मा जी! हम यहाँ पर हैं। आ जाइए।"

यह सुनते ही वह बोला— "गुरु जी! आप यहाँ बैठे हैं क्या?"

"हाँ! मैं यहीं पर हूँ, आ जाइए।"

महाराज जी के संकेत करते ही वे पुल से नीचे उतर आये। क्रोध में तमतमाते हुए उन्होंने कारुदास पर कटु दृष्टि से देखा।

थोड़ी देर में जब उन्होंने महाराज जी की ओर देखा, तो उनके मुख की मुद्रा बदल गयी। महाराज जी के चेहरे की ओर ध्यान से देखते हुए उन्होंने धीरे से कहा— "महाराज जी! क्या आप नहाने के लिये ही यहाँ बैठे हैं? कोई बात नहीं, मैं बैठ जाता हूँ। आप नहा लीजिए।"

स्नानादि कर्मों से निवृत्त होने के पश्चात् यात्रा पुनः प्रारम्भ हो गयी। यात्रा के बीच अवधूत जी बड़े ही विनम्र एवं स्नेह के स्वर में महाराज जी से बोले— "गुरुदेव! मैंने कभी आपकी आज्ञा का उल्लंघन तो किया नहीं, फिर भी आपने मुझसे अलग हो जाने के बारे में क्यों सोचा? मैंने आपको किसी भी प्रकार से कभी तंग भी नहीं किया। यदि मेरे कारण आपको कोई कष्ट हुआ हो, तो उसे बताने का कष्ट करें। मैं आपको कुछ उपयोगी नुस्खे देना चाहता था, जो अन्य किसी को नहीं दे सकता। मैं आपसे अपनी भूलों के लिये क्षमा चाहता हूँ।"

यह कहकर अवधूत जी ने महाराज जी को प्रणाम किया। प्रत्युत्तर में महाराज जी ने प्रणाम किया। इसके पश्चात् अवधूत जी वहाँ से विदा होकर चले गये।



## (७)

अवधूत के अलग होने के पश्चात् महाराज जी के अन्दर वैराग्य बहुत प्रबल हो उठा। भोजन और नींद की मात्रा भी बहुत कम हो गयी। वे एक दिन छोड़कर बहुत ही थोड़ा सा खाने लगे।

अकेले रहना ही एकान्तवास है। दो के साथ भी द्वन्द्व बने रहने की सम्भावना है। स्वयं को तीन व्यक्तियों के साथ रहने पर ग्राम में तथा पाँच व्यक्तियों के साथ रहने पर नगर में रहने वाला समझना चाहिए।

एक बार रात्रि के समय महाराज जी पेड़ के नीचे ध्यानमग्न बैठे हुए थे। पूर्व की तरह ही किसी अज्ञात व्यक्ति ने उनकी बाँह मरोड़ी। थोड़ी देर में उनकी आँखें खुलने लगीं। सामने दिव्य प्रकाश नजर आने लगा। कानों



में प्रत्यक्ष रूप से यह आवाज सुनायी पड़ी— "देखो! अब तुम्हें शिव जी के साक्षात् दर्शन होंगे। उनसे अवश्य बात करना। यदि मन में कोई भी संशय हो , तो उसका निवारण अवश्य कर लेना।"

थोड़ी ही देर में अलौकिक तेज-पुञ्ज दिखायी पड़ा, जिसके प्रकाश में सब कुछ दिखायी पड़ने लगा। उस तेज-पुञ्ज के मध्य में शिव जी का अति सुन्दर स्वरूप प्रकट हुआ।

शिव जी के नेत्र अति सुन्दर थे। उनके मुखारविन्द की आभा चन्द्रकला के समान सुशोभित हो रही थी। उनके दर्शन करते ही महाराज जी रोमाञ्चित हो गये। उन्होंने प्रेम में गदगद होकर शिव जी को मन ही मन प्रणाम किया। अचानक ही उन्हें सुनायी पड़ा , जैसे भगवान शिव कह रहे हों— "ए भक्त! गुरु धारण कर लो।"

यह सुनकर महाराज जी ने कहा— "आपकी आज्ञा शिरोधार्य है, लेकिन मेरी समझ में नहीं आ रहा है कि मैं किसको गुरु के रूप में स्वीकार करूँ?"

कानों में बाँह मरोड़ने वाले दिव्य पुरुष की आवाज सुनायी पड़ी— "हे भाई! शिव जी को यदि तुम अपना गुरु बना लोगे, तो तुम्हारे सभी कार्य सिद्ध हो जायेंगे।"

महाराज जी ने उत्तर दिया— "मैं उन्हें जानता ही नहीं हूँ कि वे कहाँ पर मिलेंगे?"

"भविष्य में वे तुम्हें यहाँ से आगे मिलेंगे।"

यह कहकर दिव्य पुरुष तथा तेज-पुञ्ज दोनों ही अन्तर्धान हो गये। अब चारों ओर पूर्ववत् अन्धकार छा गया था।

महाराज जी को भी अहसास हो गया कि उनकी

बाँह ढीली हो गयी है। उनके मन में पुनः प्रश्नोत्तरों का तूफान खड़ा हो गया। सारी रात इसी में बीत गयी।

प्रातःकाल तड़के ही पुरी के लिये प्रस्थान कर दिए। काशी में मिले महापुरुष के वचनों पर श्रद्धा रखकर ही वे पुरी जा रहे थे। हृदय में जगन्नाथ जी के दर्शन की तीव्र लालसा थी।

जब वे पुरी पहुँचे, तो उनके शरीर पर मात्र एक पुरानी लंगोटी थी। कमर के अतिरिक्त सारा शरीर नग्न था। हाथ में छोटी सी लुटिया थी।

उनके मन में इस बात का बहुत संकोच था कि जब जगन्नाथ जी दर्शन देंगे, तो वे उन्हें भेंट में क्या देंगे? जब सुदामा श्री कृष्ण जी के पास गये थे, तो उनके पास पैबन्द लगे कपड़ों में कुछ चावल तो थे, किन्तु महाराज

जी के पास तो कुछ भी नहीं था।

एक ताल में जल्दी-जल्दी स्नान करके, वे दर्शन करने के लिये मन्दिर में गये। प्रारम्भ में ही एक पण्डे ने कटु शब्दों से उनका स्वागत किया। बोला - "तुम इस तरह कहाँ जा रहे हो? क्या तुम चन्दन ताल में नहाये हो?"

"मैं नहाकर तो अवश्य आया हूँ, लेकिन मुझे यह नहीं मालूम कि आप चन्दन ताल किसको कहते हैं?"

कठोर हृदय वाले पण्डे ने महाराज जी को धमकाते हुए कहा - "चले आए हैं दर्शन के लिये। पहले तुम नहा करके आओ, तब तुम्हें मंदिर में दर्शन के लिये जाने देंगे।"

यह कहकर उसने जोर से धक्का देकर उन्हें भगा

दिया।

पण्डे से अपमानित होकर महाराज जी मन्दिर के बाहर आए। पूछने पर पता चला कि जिस ताल में वे स्नान करके गये थे, वह चन्दन ताल नहीं था।

चन्दन ताल का पता पूछकर उन्होंने उसमें स्नान किया और नये उत्साह के साथ मन्दिर में पहुँचे कि आज अवश्य ही जगन्नाथ जी के दर्शन होंगे।

महाराज जी ने सिंहासन की ओर दृष्टिपात किया। उन्हें लकड़ी की ही मूर्तियाँ नजर आयीं। उन्होंने आश्चर्य में भरकर अन्य तीर्थ यात्रियों को देखा जो जगन्नाथ जी की मूर्ति का दर्शन प्राप्त करके गदगद हो रहे थे।

महाराज जी ने उनको खुश होते देखकर यह समझा कि शायद परिक्रमा करने के कारण ही इनको दर्शन हुआ

है, इसलिये यदि मैं भी परिक्रमा करूँ तो मुझे भी दर्शन हो सकता है। यह सोचकर वे श्रद्धापूर्वक परिक्रमा करने लगे।

एक परिक्रमा पूरी करने के बाद जब उन्होंने पुनः सिंहासन की ओर देखा, तो वही लकड़ी की मूर्ति दिखायी पड़ी। अब उनके हृदय में यह संशय पैदा हो गया कि मुझे जगन्नाथ जी के दर्शन क्यों नहीं हुए?

मन ने कहा कि पूरी परिक्रमा न करने के कारण ही दर्शन नहीं हुए हैं। अब वे पुनः जोश के साथ परिक्रमा में लग गये। परिणाम, वही ढाक के तीन पात। सामने काठ की वही मूर्ति दिखायी पड़ी।

उनका मन अधीर होने लगा। करते भी क्या, परिक्रमा तो करनी ही थी। संयोग से उन्हें यात्रा के साथी

कारुदास भी मिल गये, जो परिक्रमा लगा रहे थे। महाराज जी ने उनसे पूछा— "क्या आपको जगन्नाथ जी के दर्शन हो गये? मुझे तो अब तक दर्शन से वंचित रहना पड़ा है।"

"अरे! आप क्या कहते हैं? जगन्नाथ जी तो आज साक्षात् दर्शन दे रहे हैं। वह देखो! उनकी प्रतिमा के अंगों में हीरे और माणिक आदि चमक रहे हैं। इसी को तो प्रत्यक्ष दर्शन कहते हैं।"

"महात्मा जी! मुझे तो अब तक दर्शन नहीं हुए हैं। यदि आप अपनी कृपा दृष्टि से मुझे भी दर्शन करवा दें, तो बहुत अच्छा हो जाये। मैं तो एक महात्मा जी के कहने पर श्रद्धा और विश्वास के कारण यहाँ आया था, लेकिन मुझे निराशा हाथ लगी है। सभी यात्री कहते हैं कि हमें दर्शन हो गये। केवल मैं ही हूँ, जिसे अभी तक दर्शन नहीं

हुए।"

उन दोनों की बातचीत को एक पण्डा सुन रहा था। वह एक सिपाही को बुलाकर बोला— "यह पागल मन्दिर में घुस आया है। इसे धक्के देकर यहाँ से निकालो। इसे एक मिनट भी यहाँ न रहने दो।"

सिपाही महाराज जी के निकट पहुँचकर बोला— "अरे! तू कौन है? निकल जा इस मन्दिर से।"

महाराज जी मौन रहे, लेकिन उस सिपाही की असभ्यता बढ़ती ही जा रही थी। अन्त में उन्होंने कहा— "भाई! मैं जगन्नाथ जी के दर्शन की अभिलाषा में काशी से पैदल चलकर आया हूँ। मैंने अभी केवल दो ही परिक्रमा की हैं। थोड़ी देर और रुक जाइए। शायद और थोड़ी परिक्रमा करने पर दर्शन हो सकता है।"



सिपाही ताव में बोला – "यदि तुम अभी बाहर नहीं निकलते हो, तो मैं डण्डे लगाऊँगा।"

यह कहकर वह महाराज जी की तरफ बढ़ने लगा। अपमान का घूँट पीने की अपेक्षा, उन्होंने वहाँ से चल देना ही उचित समझा।

सागर के किनारे महाराज जी आठ दिनों तक चिन्तन में डूबे रहे। उनके कोमल और भावुक हृदय में रुढ़िवादिता के विरोध में क्रान्ति की चिनगारी सुलगने लगी थी – "कितने कष्टों को झेलकर मैं यहाँ तक पहुँचा था। लेकिन यहाँ परमात्मा के दर्शन क्या होंगे, जब मानवता ही नहीं है?"

जड़ मूर्ति जो हँसना-बोलना, उठना-बैठना नहीं जानती, उसी के दर्शन के लिये लाखों लोग आते हैं।

उसमें भी बिचौलिये पण्डों की कृपा के बिना दर्शन नहीं होता। ये पण्डे जो स्वयं माँस, मछली, और शराब में आसक्त हैं, ज्ञान से कोसों दूर हैं, दूसरों का क्या कल्याण करेंगे?

सम्पूर्ण समाज अन्धकार में फँसा हुआ है। जहाँ देखो, वहाँ अज्ञानता का ही साम्राज्य है। उस अलख-अगोचर परमात्मा को पूजा-पाठ आदि कर्मकाण्डों के सहारे नहीं पाया जा सकता।

अजब हैरान हूँ भगवन, तुम्हें कैसे रिझाऊँ मैं॥

तुम्हारी ज्योति से रोशन है, सूरज चाँद और तारे।

महा अन्धेर है तुमको, यदि दीपक दिखाऊँ मैं॥

लगाना भोग तुमको तो, ये अपमान करना है।

खिलाता जो सब जग को, उसे कैसे खिलाऊँ मैं॥

"अब तो साक्षात् जगन्नाथ जी भी यदि घर आकर दर्शन देना चाहें, तो मुझे उनके दर्शन की कोई आवश्यकता नहीं है। मुझे तो उस पूर्ण ब्रह्म परमात्मा को पाना है, जो सबका है, प्रेम और आनन्द का सागर है, जिससे मिलने में पण्डों की कोई बाधा नहीं।

"लेकिन उसको पाने के लिये तो सद्गुरु की खोज करनी पड़ेगी। उसके बिना कोई भी आत्मा के प्रियतम से नहीं मिलवा सकता। अब मुझे किसी भी मन्दिर की चारदिवारी में नहीं भटकना है।"

यह सोचते हुए उन्होंने रामेश्वरम् की ओर प्रस्थान किया।

सद्गुरु की खोज भी कैसे करें? कभी देखा तो है नहीं और न ही किसी से उनके बारे में सुना है। संसार में

गुरु तो लाखों हैं, लेकिन उनके बीच में से सद्गुरु को कैसे ढूँढा जाये, जो इस भवसागर से पार करके प्रियतम से मिलन कराये?

नंगे पाँवों से चलना है, सद्गुरु का कोई पता है नहीं, फिर भी मिलन की आशा में उनके पाँव आगे बढ़ते ही गये।

महाराज जी ने दिन पर दिन अपने मन को कसौटी पर कसना शुरू कर दिया। अब वे केवल पाँचवें दिन ही फलाहार करते, शेष दिन मात्र जल या उपवास के सहारे रहते।

वे पुरी से चलकर साक्षी गोपाल नामक मन्दिर में पहुँचे, जो भुवनेश्वर और कटक के बीच में पड़ता है। वहाँ से वे विशाखापत्तनम् के लिये प्रस्थान कर दिये। वाल्टेयर

विशाखापत्तनम् के बहुत नजदीक है। मार्ग में गोमुख नामक एक स्थान पर गये, जहाँ से नदी बह रही थी।

एक बार रात्रि में वे चिन्तन में लीन थे। अचानक ही उन्हें यह आभास हुआ कि किसी ने आकर उनकी बाँह मरोड़ दी है।

जब उन्होंने आँखें खोलीं, तो देखा कि चारों ओर प्रकाश ही प्रकाश नजर आ रहा है। इस बार का प्रकाश पूर्व के दोनों प्रकाशों से कुछ अलग ही था। उस प्रकाश के अन्दर से एक दिव्य पुरुष प्रकट हुए और बोले— "अभी महादेव जी अपनी मण्डली सहित प्रकट होने वाले हैं। यह दर्शन संसार के लोगों के लिये दुर्लभ है।"

महाराज जी सावधान होकर उस पल की प्रतीक्षा करने लगे, जिसमें महादेव जी का प्रत्यक्ष दर्शन होना था।

महाराज जी की दृष्टि जैसे ही स्थिर हुई, प्रकाश का तेज और बढ़ता गया। चारों ओर अति तेजोमय आभा का साम्राज्य हो गया।

अचानक एक पुरुष ऊपर से आता हुआ दिखायी पड़ा। उसके आते ही तख्त पर आसन अपने आप बिछ गया। सामने एक चमकदार पात्र था, जिसमें प्रसाद और चम्मच रखा हुआ था।

थोड़ी ही देर में वहाँ बहुत से महात्मा प्रकट हो गये और ऊपर की ओर देखने लगे जैसे कि कोई आ रहा हो। प्रकाश का तेज पल-पल बढ़ने लगा।

एकाएक सामने आसन पर साक्षात् महादेव जी बैठे हुए दिखायी दिए। यह पता ही नहीं चल पाया कि वे कब और कहाँ से आ गये?

सभी महात्माओं सहित महाराज जी ने उन्हें प्रणाम किया। इसके पश्चात् उन्होंने सबको प्रसाद देना प्रारम्भ किया।

बाँह ऐंठने वाले उस दिव्य पुरुष ने महाराज जी को पंक्ति में लग जाने के लिये संकेत किया, ताकि वे भी प्रसाद पा सकें।

हाथ में छोटी सी लुटिया और कम्बल लिये महाराज जी भी लाइन में लग गये। एक-एक करके सभी प्रसाद लेते गये।

अन्त में महाराज जी की बारी आयी। वे महादेव जी के आगे पहुँचे। जैसे ही उनकी दृष्टि मिली, नयनों से प्रेम के आँसुओं की कुछ बूँदे गिर पड़ीं।

शिव जी ने चम्मच में प्रसाद भरकर देने के लिये

अपना हाथ आगे किया, लेकिन महाराज जी निश्चल खड़े रहे। उन्होंने अपना हाथ आगे नहीं फैलाया।

यह देखकर दिव्य पुरुष बोले— "प्रसाद क्यों नहीं ले रहे हो? साक्षात् भगवान शिव ही तो दे रहे हैं।"

"मेरा नियम है कि पाँच दिन के बाद ही थोड़ा सा फल लेता हूँ। मैंने आज ही फल का आहार लिया है। यदि लेता हूँ, तो मेरा नियम टूट जायेगा।"

दिव्य पुरुष ने अपने आग्रह से महाराज जी को प्रसाद लेने के लिये विवश कर दिया। शिव जी अभी भी अपने हाथों में देने के लिये प्रसाद रखे हुए थे। अन्ततोगत्वा महाराज जी ने भी प्रसाद लेने के लिये अपना हाथ आगे की ओर कर दिया।

महाराज जी को सांत्वना देते हुए दिव्य पुरुष ने



कहा- "तुमने बहुत कठिन प्रतिज्ञा कर ली है, फिर भी घबराने वाली कोई बात नहीं है। शंकर जी सावन के मास में यहाँ ठहरा करते हैं। तुम इस महीने यदि यहाँ पर ठहर जाओगे, तो तुम्हारी समस्याओं का समाधान हो जायेगा।"

यह कहकर वे अदृश्य हो गये। पल भर में ही ऐसा हो गया कि जैसे पहले कुछ था ही नहीं। महाराज जी भी लुटिया में प्रसाद लेकर अपने आसन पर बैठ गये।

पूरी रात महाराज जी उस घटना से सम्बन्धित विचारों में डूबे रहे। बैठे-बैठे पूरी रात गुजर गई। प्रातःकाल एक वृद्ध महात्मा आए और महाराज जी से बोले- "आप बालाजी का दर्शन कीजिए। वहाँ की महिमा अपार है।"

"मैं एक माह तक कहीं भी नहीं जाऊँगा। मेरा यहाँ एक माह तक रहना बहुत आवश्यक है।"

यह सुनकर उस दिन तो महात्मा जी चले गये, किन्तु अगले दिन वे पुनः आ गये। वे प्रत्येक बात में भावविभोर होकर बालाजी की महिमा बताते। अन्त में, महाराज जी को मजबूर होकर बालाजी जाने का निर्णय लेना पड़ा।

वहाँ से चलकर महाराज जी वाल्टेयर पहुँचे। वहाँ एक महात्मा के आश्रम में जा विराजे। उस आश्रम में और भी कई साधु-महात्मा ठहरे हुए थे।

महाराज जी एक दीवार का सहारा लेकर अपने आसन पर बैठे हुए थे। अचानक एक महात्मा उनके आगे से गुजरे। महाराज जी उनकी तरफ मात्र देखते ही रहे,

उन्होंने उसे प्रणाम नहीं किया। उस महात्मा को यह बात बहुत बुरी लगी और उसने पूछा— "क्या तुम ब्राह्मण हो?"

"हाँ! मेरा शरीर तो ब्राह्मण का ही है।"

"आप कैसे ब्राह्मण हैं, जो सन्यासी को प्रणाम नहीं करते हैं? ब्राह्मण संसार के गुरु होते हैं और सन्यासी के गुरु अविनाशी परमात्मा होते हैं। आपका मेरे प्रति इस प्रकार का व्यवहार उचित नहीं है।"

"मुझे आपमें सन्यासी के लक्षण ही नहीं दिखायी दिए, इसलिये मैंने आपको प्रणाम नहीं किया। यदि आप वास्तव में सन्यासी होते, तो मेरा सिर आपके चरणों में स्वयं ही झुक जाता और आपको इस प्रकार के गिले-शिकवे का अवसर ही नहीं मिलता।"

महाराज जी की इस बात पर वह कुछ क्रोधित होकर बोला— "तो पहले तुम ही सन्यासी के लक्षण बताओ?"

"गीता में कहा गया है कि जिसने काम्य (आसक्ति वाले) कर्मों का परित्याग कर दिया है या कर्म के फल की आशा किये बिना जो निष्काम कर्म करता है, वही सन्यासी है। आप को गीता का यह अभिप्राय समझ में आ गया है या मैं और बताऊँ?"

यह सुनते ही महात्मा जी क्रोध में अंगारे की तरह दहकने लगे और बोले— "अब तुम सावधान होकर रहना। मँगलवार आने दो, मैं तुम्हें बताऊँगा।"

प्रत्युत्तर में महाराज जी ने विनम्रतापूर्वक कहा— "महात्मा जी! मँगलवार तक की बाट क्यों देख रहे हैं?"

आप अपनी कृपा अभी ही कर दीजिए। मँगलवार आने में तो काफी देर है, पता नहीं आये या न आये।"

इस बात पर महात्मा जी अकड़ते हुए यह कहकर चले गये— "मँगलवार को ही बताऊँगा।"

आश्रम के सभी साधु इस विवाद को देख रहे थे। थोड़ी देर के पश्चात् एक माता महाराज जी के पास आयी और बोली— "यह साधु बहुत ही बुरा है। तुम सावधान रहना। यह कोई उपद्रव कर सकता है।"

महाराज जी ने अपने मन में सोचा कि यह साधु तो बुद्धिविहीन है। विवाद में उलझने से अच्छा है कि मँगलवार से पहले ही चल दिया जाये।

कुछ दिनों से उन्होंने फलाहार भी छोड़ रखा था। केवल जल का ही आहार था। अत्यधिक उपवास से

शरीर में बहुत कमजोरी आ गयी थी। महाराज जी ने जैसे ही इस आश्रम से प्रस्थान किया, वह झगड़ालू महात्मा भी अपने साथियों के साथ पीछे-पीछे चल दिया।

महाराज जी समझ गये कि यह कोई उपद्रव करना चाहता है, इसलिये उन्होंने अपने चलने की गति बढ़ा दी।

उस दिन तक महाराज जी आठ दिन के भूखे थे। इस बीच में उन्होंने जल के अतिरिक्त भोजन का एक कौर भी ग्रहण नहीं किया था। सद्गुरु और प्रियतम परमात्मा की खोज में उन्हें अपने प्राणों की भी चिन्ता नहीं थी। पता नहीं, उस दिन शरीर में कहाँ से कोई अलौकिक शक्ति आ गयी। उनके पैर फूल की तरह जमीन पर पड़ने लगे। उन्होंने देखते-देखते सभी विरोधियों को पीछे छोड़ दिया और पैंतीस मील की यात्रा

कर डाली।

केवल जल का ही आहार लेने से शरीर हड्डियों का ढाँचा मात्र था। पेट पीठ में धँसा था, तो आँखें गड्डे में। गाल भी मुँह के अन्दर धँसे थे, तो कमर धनुष की तरह पतली हो गयी थी।

पूरी रात्रि वृक्ष के सहारे बैठकर ध्यान –चिन्तन में बीत जाया करती। नींद तो जैसे छू-मन्तर हो गयी थी।

माया के जाल में फँसे हुए लोग ही स्वादिष्ट भोजन, सुन्दर शरीर, और कोमल शैय्या के सुख में आसक्त रहते हैं। परब्रह्म की खोज में रहने वालों का जीवन तो इनके विपरीत ही होता है।

चार दिन की लम्बी यात्रा के पश्चात् महाराज जी बालाजी पहुँच तो गये, किन्तु वे मन्दिर में दर्शन करने

नहीं गये। पुरी का कटु अनुभव उनके हृदय-पटल पर अंकित था।

कहा जाता है कि दूध का जला छाछ भी फूँक-फूँक कर पीता है, लेकिन भारतीयों ने अभी तक जड़-पूजा के दुष्परिणामों से कोई सबक नहीं सीखा है। यह जड़-पूजा की ही देन है कि भारतवर्ष हजार वर्षों तक गुलामी की जंजीरों में जकड़ा रहा। बौद्धिक, सामाजिक, एवं आध्यात्मिक दृष्टि से पतन हुआ, फिर भी कुछ स्वार्थी लोगों ने जड़-पूजा का प्रचार किया और वर्तमान में भी कर रहे हैं। काश! सभी लोग महाराज जी की तरह ही जड़-पूजा की निरर्थकता समझ जाते।

उस समय महाराज जी का हृदय विरह और वैराग्य की अग्नि में दहक रहा था। उनके शरीर पर तो वस्त्र का नामोनिशान भी नहीं था। पूर्णतया नग्न होने के कारण वे



बस्ती में भी नहीं जा सकते थे।

परमात्मा की अनुभूति न होने के कारण वे बहुत दुःखी थे। इस संसार में उनकी रहने की इच्छा समाप्त हो चुकी थी। उन्हें एक पत्थर की चट्टान मिल गयी, जिसके सहारे वे कमर लगाकर बैठ गये। उन्होंने अपने मन में यह संकल्प ले लिया कि अब यहाँ से मरकर ही उठना है।

अर्धरात्रि के पश्चात् एक महात्मा जी आए। महाराज जी की स्थिति देखकर वे सब कुछ समझ गए। उन्होंने बड़े स्नेह से समझाया— "आपका इस प्रकार स्वयं को कष्ट देना उचित नहीं है। प्रत्येक कार्य का एक निश्चित समय होता है। कली अपने समय पर ही फूल के रूप में खिलती है। आपको इस प्रकार हठपूर्वक साधना नहीं करनी चाहिए।"

महात्मा जी की मधुर एवं स्पष्ट बातों ने महाराज जी के दिल को छू लिया। उन्होंने शरीर-त्याग का निर्णय बदल दिया तथा शरीर की रक्षा करते हुए प्रेम-मार्ग द्वारा परमात्मा की खोज का रास्ता चुना।

महाराज जी ने कहा- "आपका कथन पूर्णतया सत्य है, लेकिन मैं चाहता हूँ कि रात यहीं पर बिता लूँ।"

"मेरी तो राय यही है कि तुम अभी ही यहाँ से चले जाओ। रात के समय जाने में तुम्हें डर तो नहीं लगता।"

"बिल्कुल नहीं! मेरे लिये दिन और रात में कोई भी अन्तर नहीं है।"

महाराज जी ने उन महात्मा जी को प्रणाम किया और तुरन्त वहाँ से चल दिए। वे प्रातःकाल तक बालाजी धाम पहुँच गये।

उस दिन उन्होंने मठ के आगे एक पेड़ के नीचे अपना आसन लगाया। मँगलवार का दिन था। उस झगड़ालू महात्मा ने उसी दिन के लिये कहा था कि मैं तुम्हें बताऊँगा। वह अपनी तान्त्रिक शक्ति द्वारा महाराज जी की जीवन लीला को समाप्त करना चाहता था।

आधी रात बीत चुकी थी। महाराज जी अपना सिर घुटनों के सहारे टिकाकर बैठे हुए थे। अचानक ही उन्हें कुछ घबराहट सी महसूस हुई।

महाराज जी ने अपने इष्ट का स्मरण करना शुरू कर दिया। जप करते-करते सारी रात बीत गई। महाराज जी को उस साधु की करतूत का आभास हो गया था।

प्रातःकाल साधुओं ने जब महाराज जी को देखा तो उनकी शारीरिक अवस्था देखकर उन्हें बहुत ही आश्चर्य

हुआ। उन्होंने पूछा- "तुम किस पन्थ के मानने वाले साधु हो।"

"महात्मा जी! मैं साधु नहीं हूँ। लोकरीति से मैं ब्राह्मण हूँ। यह मेरा दुर्भाग्य है कि मैं अब तक सद्गुरु की खोज नहीं कर पाया। किसी भी सम्प्रदाय या स्थान के बन्धन में मैं नहीं हूँ।"

महाराज जी के मुखारविन्द से सत्य बात सुनकर सभी महात्मा बहुत प्रसन्न हुए और उनकी प्रशंसा करने लगे।

उस मठ के मठाधीश थे भगवानदास जी। वे मठ से बाहर आकर सभी महात्माओं का हाल-चाल पूछ रहे थे। अन्त में वे महाराज जी के पास आये।

उस समय महाराज जी का शरीर पूर्णतया नग्न था।

पेट पिचककर शरीर से सट गया था। मुँह उस घोंसले के समान था, जिसमें स्वांस रूपी पक्षी आता जाता था। सारा शरीर ऐसा लग रहा था जैसे कि मात्र हड्डियों का पिंजर भर हो।

महन्त जी ने महाराज जी को बहुत ध्यान से देखा और बोले— "ब्रह्मचारी जी! मन्दिर चलो और बालाजी का दर्शन करो।"

महाराज जी उनके स्नेह भरे शब्दों से बन्ध गये और उनके पीछे-पीछे चल पड़े। मन्दिर के अन्दर जाकर बहुत ही मीठे शब्दों में महन्त जी ने कहा — "तुम इसी मठ में निवास करो। यहाँ तुम्हें हर तरह की सुविधाएँ प्राप्त होंगी। मैंने अब तक किसी को भी शिष्य नहीं बनाया है। यदि तुम्हारी इच्छा होगी, तो तुम्हें शिष्य बना सकते हैं।"

महाराज जी ने उत्तर दिया – "क्षमा करें! मैं आपका शिष्य बनने के योग्य नहीं हूँ। आपने मुझसे जो स्नेहपूर्वक बातचीत की है, मेरे लिये वही काफी है। मैं किसी स्थान का संचालन करने में असमर्थ हूँ। मैं किसी और को खोज रहा हूँ। आपकी इतनी कृपा ही मेरे लिये बहुत है।"

इतना कहकर महाराज जी ने महन्त जी को सादर प्रणाम किया और अपने आसन पर आकर विराजमान हो गये।

मठाधीश जी ने कुछ फल भिजवाये। उसमें से पाँच आम लेकर महाराज जी ने आहार किया। उस दिन से ही पाँच छोटे-छोटे फल या एक खरबूजा लेने का नियम बना लिया।

**ध्यान के लिये उचित आहार-विहार अति**

आवश्यक है। बहुत खा लेने पर ध्यान सम्भव नहीं है और बिल्कुल त्याग देने पर भी शारीरिक कमजोरी के कारण सफलता दूर हो जाती है। इसलिये महाराज जी ने भोजन का मध्यम मार्ग अपनाया।

महाराज जी वहाँ से तिरुपति तीर्थ में आये। वाल्टेयर में जो सन्यासिनी माता मिली थीं, वह तिरुपति तीर्थ में मिल गईं। महाराज जी ने उन्हें प्रणाम करके पूछा— "माता जी! उस सन्यासी का क्या हाल है? उनका साथ आपसे कब छूटा है?"

"वे तो इस दुनिया से चले गये। बेचारे यात्रा में थे, लेकिन मँगलवार रात्रि को ठीक १२ बजे उनका प्राणान्त हो गया। उनको समाधि दिलवाकर हम सभी यहाँ पर आए हैं।"

महाराज जी सारी स्थिति समझ गये कि अपनी तान्त्रिक शक्ति से उसने मुझे मारना चाहा था, किन्तु परमात्मा की कृपा से उसकी शक्ति उसके लिये ही घातक बन गयी। उसके देह-त्याग से महाराज जी को बहुत दुःख हुआ, लेकिन कर्म-फल के इस संसार में भला कोई कर भी क्या सकता है।

किसी निर्दोष व्यक्ति पर यदि तान्त्रिक शक्ति द्वारा मारण क्रिया की जाती है और वह व्यक्ति उस समय परमात्मा या समर्थ सद्गुरु के ध्यान में होता है, तो वह शक्ति प्रहार करने वाले को ही मार डालती है।





## (८)

एक छोटी सी रियासत थी तिरुपति। उसमें एक पहाड़ पर "हाथीराम" नामक एक महात्मा कठोर तप किया करते थे। उनका आहार मात्र वृक्षों के पत्ते ही थे। वे बस्ती से दूर एक भयानक वन में रहा करते थे।

उनकी प्रगाढ़ भक्ति पर रीझकर कृष्ण कन्हैया ने उन्हें बाल रूप में दर्शन दिया। उस अति सुन्दर बालक को देखकर हाथीराम जी का सारा ज्ञान और वैराग्य छूमन्तर हो गया। वे प्रेम में मग्न होकर चार दिन तक उसके साथ दिन-रात खेलते रहे।

भक्त और भगवान प्रेम की आनन्दमयी लीला में मस्त रहे। हाथीराम जी की बुद्धि इतना भी नहीं सोच पा रही थी कि इस भयानक जंगल में इतना सुन्दर बालक

कैसे आ गया? वे यह भी नहीं पूछ पाये कि तुम्हारे माता-पिता कौन हैं?

चौथे दिन बालक रूप भगवान ने भक्त हाथीराम से पूछा- "आप इस भयानक जंगल में अकेले क्यों रहते हैं? आप घर छोड़कर यहाँ क्यों आये हैं? आपकी जो भी इच्छा हो, मुझसे जरूर बताइए।"

"मुझे संसार की कोई भी इच्छा नहीं है। मैं तो अपने प्यारे कृष्ण कन्हैया की याद में खोया रहता हूँ। वह मेरे दिल में हमेशा ही बसा रहता है। मैं उसके अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु की इच्छा नहीं करता।"

अगले दिन फिर उस बालरूपधारी श्री कृष्ण जी ने प्रश्न किया- "बाबा! इस निर्जन वन में आप क्यों रहते हैं? वह कौन सा गुप्त भेद है, जिसे आप मुझसे नहीं

कहना चाहते।"

उस बालक के बार-बार आग्रह को हाथीराम जी नहीं टाल सके। वे उसे गोद में बैठाकर बहुत ही प्यार से कहने लगे- "तू अपने नन्हे से मुख से बार-बार पूछकर अपने को क्यों थकाता है? तू केवल पूछता ही है या दिलवा भी सकता है। यदि दिलवाना ही है, तो तिरुपति के राजा का राज्य दिलवा दे।"

"बाबा! तुम्हारी इच्छा अवश्य पूरी होगी। तुम यहाँ के राजा बनोगे।"

यह कहकर श्री कृष्ण जी अन्तर्धान हो गये और रात को स्वप्न में राजा से कहा- "तुम्हारी उम्र में अब केवल आठ दिन बाकी हैं। तुम अपना सारा राजपाट हाथीराम महात्मा को सौंप दो, नहीं तो तुम्हें बहुत ही

पछताना पड़ेगा।"

जब राजा की नींद खुली, तो उसने रात्रि के स्वप्न के सम्बन्ध में विचार किया। उसने सोचा – "स्वप्न में जिसने मुझे सावचेत किया है, वह मेरा शुभचिन्तक है। यदि मैं उनकी बात नहीं मानता हूँ, तो मुझे बहुत दुःख भोगना पड़ेगा।"

यह सोचकर वह प्रातःकाल ही उस छोटी सी पहाड़ी पर हाथीराम महात्मा की खोज करने लगा।

हाथीराम जी से भेंट होने पर राजा ने पूछा –  
"आपका क्या नाम है?"

"हाथीराम"

"आप सचमुच में हाथीराम हैं या केवल नाम के ही हाथीराम हैं? मुझे लगता है कि आप हाथीराम नहीं हैं।

यदि आप हाथीराम हैं, तो हाथी बनकर दिखाइए।"

"मैं आपको हाथी बनकर दिखा सकता हूँ, किन्तु मेरी यह शर्त है कि आपको ही हाथी की लीद उठाकर फेंकनी होगी।"

"मुझे आपकी शर्त सहर्ष स्वीकार है।"

"तो आप प्रातःकाल लीद उठाने के साधन की व्यवस्था करके आइएगा।"

यह सुनकर राजा ने महात्मा जी को प्रणाम किया और वापस आ गया। प्रातःकाल जब वह हाथीराम जी के पास पहुँचा, तो क्या देखता है कि चारों ओर मीलों तक लीद ही लीद पड़ी हुई है।

अब तो राजा के होश उड़ चुके थे। उसने सोचा—  
"मैं तो एक वर्ष में भी इसे नहीं उठा सकूँगा। निश्चित रूप

से ये हाथीराम जी ही हैं।"

राजा लज्जित होकर हाथीराम जी के चरणों में गिर पड़ा और बोला— "मैं आपके शरणागत हूँ। मैं आपसे हार गया।"

वहाँ की धूलि उठाकर राजा ने हाथीराम जी का राजतिलक कर दिया और बोला— "आज से इस तिरुपति राज्य के राजा आप ही हैं। मैं तो केवल ६ दिन और कुछ घड़ियों का ही मेहमान हूँ, इसलिये आपको यह सम्पूर्ण राज्य—भार सौंपता हूँ।"

अब हाथीराम जी को अपनी भूल का अहसास हुआ कि मैंने राज्य माँगकर बहुत बड़ा अपराध किया है। यह तो मेरे सिर पर बहुत बड़ा बोझ है। मैंने अपने प्रेम और वैराग्य पर दाग लगा लिया है। लगता है वह छलिया

मुझसे छल करके चला गया।

हाथीराम जी अब विरह की अग्नि में जलने लगे। वे "हा! वाला जी! हा! वाला जी!" कहकर विलख रहे थे, लेकिन वाला जी की मोहिनी छवि को वे दोबारा नहीं देख सके।

राजा के देह-त्याग के पश्चात् हाथीराम जी ने बालाजी का मन्दिर तथा मठ बनवाया। लोगों में इस घटना के कारण मन्दिर के प्रति बहुत श्रद्धा है।

महाराज जी उस धाम में तो अवश्य गये, किन्तु मन्दिर में दर्शन करने नहीं गये। जगन्नाथ पुरी में होने वाले दुर्व्यवहार से उनका हृदय फट चुका था। सद्गुरु की खोज के सिवाय वे अन्य किसी भी झमेले में अब नहीं फँसना चाहते थे।

बालाजी से चलकर महाराज जी महालक्ष्मी मन्दिर पहुँचे। उस मन्दिर में हमेशा ही लंगर चलता रहता था। साधु-महात्माओं के लिये वहाँ भोजन, दवा आदि सभी सुविधायें प्राप्त थीं।

वहाँ से जब वे आगे बढ़े, तो एक जगह काफी साधु-महात्माओं से भेंट हुई। उन्होंने महाराज जी को हाथों के इशारे से दुत्कारते हुए भगा दिया।

संवेदना से रहित होकर, बाह्य वेश-भूषा को ही सब कुछ मानना मूढ़ता की पहचान है। विरक्त कहलाकर भी यदि कोई इसी राह पर चलता है, तो निश्चित रूप से वह वैराग्य से करोड़ों कोस दूर है।

ऐसे कठोर स्वभाव वाले साधुओं से तिरस्कृत होने पर महाराज जी उनसे थोड़ी दूरी पर बैठ गये। कुछ देर



के पश्चात् एक साधु आकर महाराज जी को कटु शब्दों से फटकार लगाने लगा— "इस प्रकार नग्न होकर घूमने में क्या तुम्हें शर्म नहीं आती ? तुम्हें तो चूल्हू भर पानी में डूब मरना चाहिए। इस संसार में बड़े-बड़े सेठ हैं। क्या तुम उनसे एक लंगोटी तक नहीं माँग सकते?"

इस प्रकार कटु शब्दों के तीरों की बौछार करता हुआ वह साधु चला गया, लेकिन महाराज जी ने उसका प्रत्युत्तर नहीं दिया। वे अपने मन में सोचने लगे कि मैं जिसको पाने के लिये भटक रहा हूँ, क्या उसको मेरी अवस्था दिखायी नहीं देती? मैं किसी से भी क्यों माँगू? उचित तो यही है कि अब मैं ऐसी जगह बैठूँ, जहाँ कोई भी मुझे देख न सके। जब मैं किसी को दिखायी ही नहीं दूँगा, तो मुझे किसी की जली-कटी भी सुनने को नहीं मिलेगी।

यह सोचकर महाराज जी बाजार के पास एक खण्डहरनुमा मन्दिर में चले गये। सम्भवतः वह हनुमान जी का मन्दिर था। उसमें दरवाजों और खिड़कियों की कोई व्यवस्था नहीं थी।

दीवारें भी जर्जर हो चुकी थीं। जिस तरह निर्जन स्थान में अचानक ही मोर दिखायी पड़ जाये, वैसे ही उस खण्डहर जैसे मन्दिर में हनुमान जी की मूर्ति स्थापित थी।

वे मन्दिर में दीवार के सहारे कमर लगाकर जा बैठे। उन्हें मन्दिर में जाते हुए एक लाला जी ने देख लिया था। थोड़ी देर के बाद वह आया और बोला— "तुम यहाँ क्यों बैठे हो? चलो, भगो यहाँ से। कहीं दूसरी जगह ठहरो।"

"भाई! मेरी तो यहाँ किसी से कोई भी जान—

पहचान नहीं है। मैं यहाँ से किसके यहाँ जाऊँ? किसके दरवाजे पड़ूँ। मेरे ऊपर कृपा करो! मुझे यहाँ रात-भर ठहर लेने दो।"

जिन ब्रह्ममुनियों की चरण-धूलि से यह धरती पवित्र होती है, उन्हें खण्डहर में भी कोई ठहरने नहीं देना चाहता। उनके पास एक कौड़ी तो क्या, कमर में लंगोटी तक नहीं है। खाने को एक दाना भी नहीं, लेकिन उनके हृदय में विरह की वह धधकती हुई प्रचण्ड ज्वाला है, जिसकी एक चिनगारी भी संसार के उन विषयी लोगों को पवित्र कर देगी, जो अपने महलों और अट्टालिकाओं में सो रहे हैं।

उस समय तो लाला बड़बड़ाते हुए चला गया, किन्तु एक घण्टे के बाद पुनः आया और धमकाते हुए भगाने लगा—

"तुम अभी तक गये नहीं। भाग जाओ यहाँ से। तुम जैसे पागलों के ठहरने के लिये यह स्थान नहीं है। कहीं और जाकर माँगो-खाओ।"

"लाला जी! आप कृपा करके जरा सोचिए कि मैं और कहाँ जाऊँ? मुझे केवल रात बिता लेने दीजिए। आप घबराइए नहीं। मैं आपसे कुछ ले तो नहीं रहा हूँ।"

थोड़ी देर के पश्चात् बाजार बन्द हो गया। लाला जी भी अपनी दुकान छोड़कर तीसरी बार आए। इस बार उनका व्यवहार बदला हुआ था। ऐसा लग रहा था जैसे तपते रेगिस्तान में पानी की मीठी धारा बह रही हो या कठोर चट्टान पर मखमली घास उग आयी हो। लाला जी ने आते ही कहा- "बाबा जी! आप दुकान में ही आ जाइए। वहीं ठहर जाइएगा।"

"नहीं! मैं नहीं जाऊँगा। मुझे किसी की दुकान से क्या लेना है? प्रातःकाल ही मैं चला जाऊँगा। आप चिन्ता न कीजिए। मैं यहाँ ठीक से बैठा हूँ।"

"मुझसे बहुत बड़ा अपराध हुआ है। मेरी भूल को क्षमा करें। आप तो महात्मा हैं। मैंने आपको बहुत ही कटु शब्द कहे हैं। मुझे अपनी चरण-धूलि मानकर क्षमा कर दीजिए।"

यह कहकर वह महाराज जी के चरणों पर गिर पड़ा और पैर पकड़कर प्रार्थना करने लगा कि अब तो आपको मेरी दुकान पर चलना ही पड़ेगा।

महाराज जी ने उसे बहुत मना किया, लेकिन वह नहीं माना। निदान, महाराज जी को उसके साथ उसके कपड़े की दुकान पर जाना ही पड़ा।

दुकान में पहुँचने पर उसने एक आसन बिछाकर महाराज जी को बैठाया तथा हाथ जोड़कर बोला—  
"महाराज जी! आप एक लंगोटी ले लीजिए।"

"लाला जी! मुझे आप तंग न करें। परमात्मा की जैसी इच्छा हो, उसी के अनुकूल रहना ठीक है। मुझे लंगोटी की कोई आवश्यकता नहीं है।"

"नहीं! आपको तो मेरी यह बात माननी ही पड़ेगी। आपकी यह बहुत बड़ी कृपा होगी, यदि आप मुझसे लंगोटी ले लेते हैं। आपसे मेरी करबद्ध प्रार्थना है कि आप जितना कपड़ा कहिए, फाड़कर देता हूँ, लेकिन आपको तो लेनी ही पड़ेगी।"

लाला जी तो अपनी धुन में बोले जा रहे थे और उधर महाराज जी सोच रहे थे कि यह तो वही लाला है

जो घण्टे-भर पहले अपनी दुकान के बाहर भी बैठने नहीं दे रहा था। बार-बार यही कहता था कि भाग जाओ यहाँ से। मुझे धक्के देकर निकालने की इच्छा करने वाला यह बनिया अचानक इतना दयालु और दाता कैसे हो गया? मैंने कुछ समय पहले लंगोटी की इच्छा की थी। लगता है परमात्मा के आदेश से ही यह सब हो रहा है, इसलिये मुझे इसकी भेंट ले लेनी चाहिए।

यह सोचकर महाराज जी ने कहा- "अच्छा लंगोटी के लिये कपड़ा दे दो।"

उसने तुरन्त कपड़ा फाड़कर दे दिया और बोला- "महाराज जी! एक अंगोछा और ले लीजिए।"

"नहीं! मुझे अंगोछे की कोई भी आवश्यकता नहीं है। मैं थाली वाले कपड़े से ही अपना काम चला लेता हूँ।

लो! देख लो।"

जब वह कपड़ा निकाला, तो लाला जी सन्न रह गये। उस कपड़े में छेद ही छेद थे। वह बहुत ही जीर्ण-शीर्ण था। लाला ने पूछा- "महाराज जी! क्या अब तक इसी से थाली का काम लेते रहे हैं? अब आप इसका प्रयोग न कीजिए। मैं आपको एक थाली लाकर देता हूँ।"

"कृपया थाली का बोझ न बढ़ाइए। इसकी जगह कपड़ा ही दे दीजिए।"

यह सुनकर सेठ ने कपड़ा फाड़कर दे दिया, जो थाली की जगह प्रयोग करने के लिये था। किन्तु सेठजी को इससे भी सन्तोष नहीं था। वह हाथ जोड़कर कहने लगे- "आपको चादर की आवश्यकता अवश्य रहती होगी। आप मेरी यह सेवा अवश्य ही स्वीकार कीजिए।"



इसे मना मत कीजिए।"

"भाई! मेरे ऊपर दया करो। मुझे अब कुछ भी नहीं चाहिए। मुझे जिस चीज की आवश्यकता थी, वह पूर्ण हो गयी है।"

"महाराज! भले ही आप नाराज हो जायें, लेकिन आपको चादर तो लेनी ही पड़ेगी।"

यह कहकर उसने दो चादरें फाड़कर महाराज जी के आगे रख दीं। फिर कहने लगा— "यदि आप कहें तो मैं कसम खा लेता हूँ कि इसके बाद मैं और कुछ नहीं कहूँगा, किन्तु एक कम्बल तो लेना ही पड़ेगा।"

उसके प्रेम भरे आग्रह के कारण महाराज जी को कम्बल भी स्वीकार करना पड़ा। महाराज जी ने कहा— "तुम्हारे पास जो सबसे हल्का हो, वह ला दो।"

लाला जी ने बहुत ही हल्का कम्बल लाकर दिया और कहा— "यह ओढ़ा भी जा सकता है तथा बिछाया भी जा सकता है। इसमें कोई भार भी नहीं है।"

दिगम्बर अवस्था में एक दीवानगी थी, किन्तु इन कपड़ों को ले लेने से महाराज जी वेश-भूषा में अन्य महात्माओं की तरह ही प्रतीत होने लगे थे।

वहाँ से प्रातःकाल चलकर महाराज जी उस पक्षी तीर्थ में पहुँचे, जहाँ सीता-हरण के समय रावण ने जटायु का वध किया था। उस घटना की स्मृति में एक मन्दिर भी बना हुआ है। पक्षी तीर्थ से भ्रमण करते-करते महाराज जी चिंगलपेट पहुँचे, जो चेन्नई (मद्रास) से ५६ कि.मी. और रामेश्वरम् से ६०३ कि.मी. की दूरी पर स्थित है।

घूमते-घूमते महाराज जी हासपेट पहुँचे, जो वेल्लारी से ३४ कि.मी. और बंगलौर से ५९५ कि.मी. की दूरी पर स्थित है। यह कर्नाटक प्रान्त में स्थित है।

वहाँ से चलकर तुंगभद्रा नदी के किनारे से होते हुए वे पम्पा सरोवर आए। तुंगभद्रा नदी का जल बहुत ही स्वच्छ था और उसका प्रवाह बहुत ही लुभावना था।

पम्पा सरोवर के पास ही ऋष्यमूक पर्वत भी है, जहाँ बालि के डर से सुग्रीव लम्बे समय तक छिप कर रहे थे। यह पर्वत बिल्कुल ही खड़ी चढ़ाई का है तथा घने वनों से आच्छादित था। वृक्षों की डालियाँ आपस में इतनी उलझी हुई थीं कि वहाँ दिन में भी अन्धकार छाया रहता था।

एक व्यक्ति से पता चला कि इसी पर्वत पर मतंग

ऋषि का आश्रम है तथा किष्किन्धा पर्वत भी पास में ही है। महाराज जी के मन में मतंग ऋषि के आश्रम के दर्शन की इच्छा उत्पन्न हुई।

नीचे से देखने पर मतंग ऋषि का आश्रम प्रत्यक्ष ही दिखता है। वहाँ का आभा मण्डल इतना पवित्र है कि स्वभावतः ही हृदय में वैराग्य उत्पन्न होने लगता है। महाराज जी ने अपने मन में सोचा कि जब नीचे से देखने पर ही हृदय में इतनी पवित्रता का संचार होता है, तो वहाँ प्रत्यक्ष जाकर दर्शन करने से बहुत बड़ा लाभ होगा।

महाराज जी ने मतंग ऋषि के आश्रम में जाने का दृढ़ निश्चय कर लिया, लेकिन जब उन्होंने वहाँ जाने के लिये रास्ते और दूरी के बारे में पूछा तो साधुओं ने हँसी उड़ानी शुरू कर दी। एक साधु ने तो महाराज जी की ओर मुख करके खिलखिलाकर हँसते हुए कहा— "बाबा

जी! आप तो पहलवान हैं। आपके अन्दर बहुत शक्ति है, इसलिये आपको जरूर ही जाना चाहिए। वहाँ आज तक कोई भी जा नहीं पाया है, यदि गया भी है तो जीवित नहीं लौटा है। प्रायः ऊपर तक कोई पहुँच ही नहीं पाता। रास्ते में ही मृत्यु का शिकार बन जाता है।"

अपने दृढ़ निश्चय पर बने रहना और चुनौतियों को स्वीकार करना तो महाराज जी का अपना स्वभाव ही था। वे तुरन्त ही आश्रम जाने के लिये चल पड़े। हृदय की प्रेरणा के अनुसार वे चलते ही गये।

निम्न श्रेणी के व्यक्ति कठिनाइयों के डर से कार्य का प्रारम्भ ही नहीं करते। मध्यम श्रेणी के लोग कार्य प्रारम्भ तो कर देते हैं, किन्तु कठिनाइयों के आने पर बीच में ही छोड़ देते हैं। उत्तम श्रेणी के लोग इन सबसे भिन्न होते हैं जो बार-बार कठिनाइयों से जूझते रहते हैं, पर कार्य को

## पूरा करके ही दम लेते हैं।

पर्वत सीधे खड़ा था, इसलिये उसकी चढ़ाई बहुत ही कठिन थी। यदि दुर्भाग्यवश कोई फिसल जाये, तो बचना मुश्किल था। जंगल बहुत ही घना था। उसमें रास्ता निकालना बहुत ही कठिन काम था। कभी तो रास्ता दिख जाता, तो कभी कुछ पता ही नहीं चलता था। दस-दस गज की दूरी पर नये-नये मार्ग ढूँढने पड़ रहे थे।

उस वन में शेरों और बाघों की भरमार थी। उनकी माँदों के आगे हड्डियों के ढेर लगे हुए थे। कदम-कदम पर भय का साम्राज्य था। परमात्मा की कृपा से बहुत भाग्यशाली व्यक्ति ही उस दुर्गम वन को पार कर सकता था।

महान योद्धा भी मृत्यु से भयभीत हो जाते हैं, किन्तु योगी-महात्मा मृत्यु से जरा भी भय नहीं खाते। उन्हें अपने शरीर की नश्वरता और आत्मा की अमरता का पल-पल अहसास रहता है।

महाराज जी बिना डरे हुए उस पर्वत पर चढ़ते गये। अन्ततोगत्वा उन्हें आश्रम दिखायी पड़ ही गया, जो एक चबूतरे के ऊपर बना हुआ था।

आश्रम तो दूर से दिख गया था, किन्तु वहाँ तक पहुँचने का कोई रास्ता न था। चारों ओर किले की दीवारों जैसी चट्टाने थीं। महाराज जी के मन में यह बात आ गयी कि हिंसक जानवरों से सुरक्षा के लिये ही ऊपर जाने का रास्ता नहीं बनाया गया है। उनके आश्रम में आने-जाने से साधना का मार्ग कठिन हो जाता।

महाराज जी को एक स्थान पर दो पत्थर दिखायी पड़े, जिससे उन्होंने यह समझ लिया कि यहीं से ऊपर जाने का रास्ता है। बस, फिर क्या था। महाराज जी वृक्षों की जड़ें पकड़कर घिसट-घिसट कर चढ़ने लगे। अन्त में सफलता ने उनके कदम चूमे और वे आश्रम तक पहुँच ही गये।

उन्होंने वहाँ देखा कि पर्वत की चोटी को तराश कर एक समतल मैदान बनाया गया है, जिसने चबूतरे का रूप ले रखा है। उस चबूतरे पर आश्रम का निर्माण किया गया था। वहाँ की अलौकिक शोभा को देखकर हृदय गदगद हो गया। ऐसा लगता था जैसे पृथ्वी पर साक्षात् स्वर्ग ही उतर आया हो।

इस आश्रम के चारों ओर पर्वत की ऊँची-ऊँची चोटियाँ खड़ी थीं, जिन्हें लाँघकर आना किसी भी हिंसक



जीव के लिये सम्भव नहीं था।

महाराज जी ने सोचा कि ध्यान-साधना के लिये इससे श्रेष्ठ और कोई स्थान नहीं है। यहाँ तो विषय – सुखों का नामोनिशान भी नहीं दिखायी पड़ा। आश्रम की शोभा को देखकर मन आनन्द के सागर में विहार करने लगता है।

आश्रम में एक तिनके भर की भी गन्दगी नहीं थी। ऐसा प्रतीत होता था कि मतंग ऋषि इसमें साक्षात् रहते हैं और उन्होंने ही यह सफाई की है। आश्रम के चारों ओर लताओं और झाड़ियों की शोभा किले की दीवारों के समान थी। चारों ओर फलों, फूलों, और वृक्षों से आश्रम शोभायमान था।

चबूतरे के मध्य में एक छोटा सा तालाब था ,

जिसका जल बहुत अधिक स्वच्छ था। उसमें वर्षा का पानी स्वतः ही एकत्रित होता रहता था। महाराज जी ने लोटे से जल भर-भर कर वहाँ स्नान किया तथा लंगोटी पहनी। चादर ओढ़कर ऋषि के दर्शन हेतु तैयार हो गये। वे धीरे-धीरे अपने कदम बढ़ाते हुए आश्रम की ओर चल पड़े।

उस आश्रम के तीन भाग थे। जब वे प्रथम भाग में पहुँचे, तो वहाँ मात्र झाड़ू के सिवाय और कुछ नहीं था। जब वे दूसरे भाग में पहुँचे, तो वहाँ एक धूनी लगी हुई थी, जिसमें से धुँआ उठ रहा था। वहाँ पर एक आसन भी लगा हुआ था। महाराज जी समझ गये कि यहाँ पर अवश्य ही कोई न कोई महात्मा हैं। वहाँ पर दीपक भी था, जिसमें तेल और बत्ती दोनों ही थे। बत्ती का मुख काला था, जैसे उसे रात में ही जलाया गया हो। जब

महाराज जी तीसरे खण्ड में आये, तो उन्हें एक कोने में थोड़ी सी लकड़ियाँ पड़ी मिलीं, लेकिन मतंग ऋषि के दर्शन न हो सके।

महाराज जी अपने मन में सोचने लगे कि ऋषि कहाँ छिप गये? क्या मैं दर्शन का अधिकारी ही नहीं हूँ? निश्चित रूप से वे यहीं पर हैं। लगता है कि मुझे अयोग्य समझकर वे अदृश्य हो गये हैं? क्या मेरा यहाँ आना व्यर्थ हो जायेगा? यह भी हो सकता है कि वे कन्द-मूल लेने जंगल में चले गये हों।

यह सोचते हुए कभी तो वे बाहर टहलने लगते और कभी पत्थर पर बैठकर प्रतीक्षा करते। कभी ऋषि के इस व्यवहार की समीक्षा भी करने लगते।

अचानक ही उनके मन में एक विचार उठा, जिसने

उनको अन्दर तक झकझोर कर रख दिया। उन्होंने सोचा— "झण्डूदत्त! तुम्हारे अन्दर ऋषि के दर्शन की पात्रता ही नहीं है, तभी तो वे दर्शन नहीं दे रहे हैं। जब ऋषियों का दर्शन भी तुम्हारे लिए दुर्लभ है, तो पूर्ण ब्रह्म तुम्हें कैसे दर्शन देंगे।"

इन्हीं विचारों में खोए-खोए वे निश्चेष्ट से होकर बैठे रहे। हृदय में चिन्तन का प्रवाह हिलोरें मारने लगा कि क्या मुझे सबके आधार उस पूर्ण ब्रह्म सच्चिदानन्द की पहचान हो पायेगी या मैं जीवन भर ऐसे ही खाली हाथ बैठा रहूँगा?

बहुत देर के बाद ही वे इन सकारात्मक और नकारात्मक विचारों से उबर सके। उन्होंने जब अपनी दृष्टि पश्चिम दिशा में डाली, तो देखा कि सूर्य तो अब डूबने ही वाला है। धीरे-धीरे चारों ओर अन्धकार फैल

गया। उन्होंने सोचा कि यदि मुनि जी के दर्शन की सम्भावना होती, तो यहाँ पर रुकना ठीक था। जब मैं उनको दर्शन पाने के योग्य ही नजर नहीं आता, तो यहाँ पर विश्राम करना व्यर्थ है। इसलिये मुझे रात वहीं बितानी चाहिए, जहाँ पिछली रात बितायी थी।

मन में यह विचार आते ही महाराज जी ने उस आश्रम के प्रति अति श्रद्धा प्रकट की और वहाँ से नीचे की ओर चल पड़े। किन्तु, महान आश्चर्य ..... आश्रम से किसी के बोलने की आवाज सुनायी पड़ने लगी। किसी के चलने तथा पैरों की आहट भी सुनायी पड़ने लगी।

ऐसी स्थिति में महाराज जी के मन में यह धारणा दृढ़ हो गयी कि मतंग ऋषि निश्चित रूप से आश्रम के अन्दर ही हैं, वे किसी गुप्त रास्ते से अब आ गये हैं।

यह सोचकर वे पुनः आश्रम की ओर लौट पड़े और उनकी खोज शुरू कर दी। ऋषि भला क्या मिलते , उनकी चरण-धूलि भी नहीं मिली।

अब तो महाराज जी का मन बहुत ही खिन्न हो गया। उन्होंने स्वयं को फटकारा कि जब मैं इस योग्य नहीं हूँ कि कोई ऋषि मुझे दर्शन दे , तो सर्वशक्तिमान परमात्मा कैसे दर्शन देंगे? अब तो अपने को इस योग्य बनाना ही पड़ेगा कि आध्यात्मिक जीवन सफल हो जाये।

महाराज जी ने उस पवित्र और प्राचीन आश्रम को प्रणाम किया और निराश होकर पम्पेश्वर के आश्रम की ओर चल पड़े। जैसे ही वे उस चबूतरे से नीचे उतरे, उन्हें एक जानवर सा दिखायी पड़ा। वह गाढ़े चितकबरे रंग का था। उसे देखते ही महाराज जी के हृदय की धड़कन दोगुनी हो गयी। उन्होंने समझा कि आज तो

जान बचनी मुश्किल है।

किन्तु वह जानवर स्थिर ही रहा। उसके चार पैर तो दिखायी पड़े, किन्तु सिर नहीं दिखायी पड़ा। महाराज जी सोचने लगे कि क्या कारण है कि यह चल-फिर नहीं रहा है। जब उसके निकट गये तो पता चला कि यह तो गाय है, जिसको किसी हिंसक जानवर ने मार डाला है।

उस गाय को बाघ या शेर ने दुम की तरफ से फाड़ दिया था। उसके पेट के अन्दर से परनाले की तरह से खून बह रहा था। जब महाराज जी ने उसे गौर से देखा, तो पता चला कि अभी उसकी साँस चल रही है। यह करुण दृश्य देखकर महाराज जी का शरीर सिहरन से भर गया।

पल-पल अन्धकार बढ़ता जा रहा था। इसलिए

महाराज जी को भी तेज कदमों से पम्पेश्वर आश्रम की राह पर चलना पड़ा। जब वे नीचे आए तो महात्माओं ने उनसे व्यंग्यपूर्वक पूछा— "महात्मा जी! क्या आप ऊपर से दर्शन करके चले आए?"

"हाँ! मैं वहाँ से चला तो आया, किन्तु मेरा जाना बेकार ही रहा। मैं चाहकर भी मतंग ऋषि के दर्शन नहीं कर सका।"

मन्दिर के महन्त जी भी वहाँ आ गये थे। यह बात सुनकर वे कुछ क्रोधित से होकर बोले— "आप बिल्कुल झूठ बोल रहे हैं। निश्चित रूप से आप ऊपर गये ही नहीं थे।"

"मुझे आप से झूठ बोलकर क्या लेना है? क्या आपसे इनाम पाने के लिये मैं झूठ बोलूँगा? आप मेरे



ऊपर विश्वास करें या न करें, किन्तु मैंने जो कुछ भी कहा है वह अक्षरशः सत्य है।"

"यदि तुम वहाँ गये थे, तो वहाँ की कुछ पहचान बताओ।"

"आश्रम एक चैखूँटे चबूतरे के ऊपर बना हुआ है। वह तीन खण्डों में है। चबूतरे के मध्य में छोटा सा तालाब है। रास्ते में चितकबरे रंग की एक गाय को बाघ ने मार डाला है। उसके शरीर से बहुत अधिक खून निकल रहा है।"

गाय के मरने की बात सुनते ही महन्त जी का चेहरा पीला पड़ गया। वे बोले— "इस रंग की तो अपनी ही गाय है।"

"यदि आपकी गाय वैसी ही है, तो उसका पता

कीजिए।"

महन्त जी को महाराज जी की बातों पर विश्वास नहीं हुआ। वे सोचते थे कि यह झूठ बोल रहे हैं, लेकिन प्रतीक्षा करते-करते जब प्रातःकाल तक गाय नहीं आयी, तब महन्त जी को विश्वास हुआ कि उनकी ही गाय किसी हिंसक जानवर का शिकार बन गयी है और सचमुच ही महात्मा जी मतंग ऋषि के आश्रम का दर्शन कर आये हैं।



## (९)

रात्रि को महाराज जी भोजन नहीं लेते थे। सारी रात साधना में ही व्यतीत हो जाया करती थी।

एक बार वे हनुमान जी के मन्दिर में जा बैठे। कम्बल का उन्होंने आसन बिछा लिया तथा चादर ओढ़कर बैठ गये। प्रतिदिन की तरह वे आज भी ध्यान में डूबे हुए थे कि किसी भी तरह परमात्मा से मिलन हो जाए।

अचानक ही आधी रात्रि के पश्चात् किसी ने उनका हाथ पकड़कर जोर से ऐंठ दिया। जैसे ही महाराज जी की आँखें खुलीं, तो देखा कि चारों ओर उजाला छा गया है।

जैसे-जैसे उनकी आँखें खुलती गईं, वैसे-वैसे

उजाला बढ़ता गया। अन्तिम स्थिति यह थी कि जैसे सूर्य उग आया हो।

सामने एक विशाल आकृति खड़ी थी। वह कहने के लिये साकार थी, लेकिन उसको छुआ नहीं जा सकता था।

अब तक जो दिव्य पुरुष महाराज जी को हाथ मरोड़कर सचेत किया करते थे, उन्होंने ही उनसे कहा— "देखो! ये हनुमान जी हैं, जो बल-पराक्रम के देने वाले हैं। इनको सादर प्रणाम करो और अपने दिल में बसा लो। ये तुम्हें समय-समय पर सहायता किया करेंगे।"

"क्षमा करें! मैं ऐसा नहीं कर सकता", कहकर महाराज जी ने अपना मुख नीचे कर लिया और बैठ गए।

दिव्य पुरुष ने महाराज जी की बाँह को झटककर

कहा- "तुम्हारे सामने साक्षात् हनुमान जी खड़े हैं और तुम इनको प्रणाम तक नहीं कर रहे हो। यह बहुत बुरी बात है। तुम्हारा यह कार्य शिष्टाचार के विपरीत है।"

"हनुमान जी हैं तो होने दीजिए। मुझे इनसे क्या मतलब है? मुझे शान्ति से बैठे रहने दीजिए। मेरा ऐसा कौन सा काम अटक रहा है कि मैं इनसे सहायता लूँ? इतने तो देवता हैं, मैं किसको-किसको प्रणाम करता फिर्लूँ? जो मेरा प्रियतम परमात्मा होगा, केवल मैं उसको ही प्रणाम करूँगा। कृपया मुझे तंग न करें और मेरे ध्यान में बाधा न डालें।"

महाराज जी के इन शब्दों को सुनकर दिव्य पुरुष कुछ संकुचित से हो गये, फिर कानों में फुसफुसाकर बोले- "मेरा कहना मान जाओ। ये तुम्हारे बड़े काम आयेंगे। इन्हें तुम अपने हृदय में बसा लो। हमेशा ही ये

तुम्हारी सहायता के लिये तुम्हारे साथ रहा करेंगे। इसमें तुम्हें क्या हानि है?"

जब उस दिव्य पुरुष ने ज्यादा दबाव देना शुरू किया, तो महाराज जी ने इस आशय से अपना मुख पीछे कर लिया ताकि वे दिखायी न पड़ें। किन्तु यह क्या .....? हनुमान जी उस दिशा में भी दिखायी पड़ने लगे।

महाराज जी को ऐसा प्रतीत हुआ जैसे कि हनुमान जी कुछ कह रहे हों। वे शब्द इतने भयंकर थे कि कानों को सहन करना कठिन पड़ रहा था।

अब तो महाराज जी ने तुरन्त ही अपना मुख तीसरी ओर कर लिया। लेकिन घोर आश्चर्य! हनुमान जी तीसरी दिशा में भी उनके सामने दिखायी देने लगे।

महाराज जी ने अपने मन में सोचा कि वे तो जंजाल में फँस गये हैं। उन्होंने वहाँ से चल देना ही उचित समझा। बस, फिर क्या था.....?

उन्होंने अपना लोटा और कमण्डल उठाया और चलने के लिये खड़े हो गये।

संसार के लोग देवी-देवताओं को प्रसन्न कर लौकिक सुख प्राप्त करते हैं। उनके लिये स्वर्ग और वैकुण्ठ ही सब कुछ है। इसके विपरीत ब्रह्ममुनियों के लिये स्वर्ग और वैकुण्ठ का सुख सर्वथा त्याज्य होता है। वे अपने अनन्य प्रेम को कलंकित नहीं होने देते और सच्चिदानन्द परब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी को भी अपना प्रेम-पात्र नहीं बनाते।

महाराज जी अपने आसन से उठकर बुदबुदाते हुए

चल दिये— "भाई! मैं रात भर यहाँ रुकना चाह रहा था, लेकिन यहाँ मुझे रुकने नहीं दोगे। आपके मन्दिर में मैं ठहर क्या गया, मेरी रात काटनी मुश्किल कर दी।"

यह कहते हुए वे जैसे ही मठ के द्वार पर आये, वहाँ भी हनुमान जी को खड़े हुए देखा। इस समय उस दिव्य पुरुष ने पुनः कहा— "ये वही तो हनुमान हैं, जिन्होंने श्री राम चन्द्र जी की कठिनाइयों को दूर किया था। तुम भयानक जँगलों में अकेले घूमा करते हो, ऐसे समय में ये तुम्हारी सहायता करेंगे, रक्षा करेंगे और हर प्रकार से सुख भी देंगे। इनको अपनाने में तुम्हें क्या आपत्ति है?"

महाराज जी ने देखा कि हनुमान जी तो रास्ता छोड़ने का नाम ही नहीं ले रहे हैं, तो वे बुरी तरह सोच में पड़ गये। उन्होंने अपने मन में विचार किया कि आज मैं इनके जाल में फँस तो गया ही हूँ, लेकिन इस दिव्य



पुरुष ने कभी भी मेरा बुरा नहीं सोचा। इनकी ही कृपा से मुझे दो बार शिव जी के भी दर्शन हुए। इसलिए इनके गहन आग्रह को ठुकराना उचित नहीं है।

अब मुझे यह बात कह देनी चाहिए कि हनुमान जी मेरे अन्दर आ जायें। यह विचारकर महाराज जी ने कह दिया— "यदि आप इसी में प्रसन्न हैं, तो मेरे अन्दर आ जाइए।"

यह कहते ही हनुमान जी की आकृति ओझल हो गयी और महाराज जी को ऐसा प्रतीत हुआ कि जैसे कोई उनके शरीर में प्रवेश कर रहा हो।

थोड़ी देर में महाराज जी को अपने शरीर में बहुत अधिक शक्ति का आभास हुआ। अब उनकी चाल में तेजी आ गयी। शरीर में भय और थकान तो नाम मात्र

की भी नहीं रह गयी। वे बड़े-बड़े भयानक वनों और पर्वतों में विचरण करने लगे।

महाराज जी वहाँ से चलकर शिव काँची, विष्णु काँची, और रंगनाथ जी पहुँच गये। तत्पश्चात् रामेश्वरम् पहुँचे। उसके पश्चात् कई और जंगलों से गुजरते हुए वे मुम्बई पहुँचे। वहाँ भोलेश्वर में उन्होंने दो माह तक निवास किया। तत्पश्चात् वे गुजरात में द्वारिका आये।

द्वारिका से गोधरा, दाहोद, और रतलाम भी गये। वहाँ से उज्जैन गये। उज्जैन से चलकर राजस्थान में अजमेर पहुँचे। वहाँ से प्रसिद्ध तीर्थ पुष्कर आये, जहाँ स्नान करके सकुशल अपनी जन्मभूमि जड़ौदा पाण्डा आये।

मात्र १९ वर्ष की अवस्था में महाराज जी घर

त्यागकर निकले थे। जब वे घर आये, तो उनकी उम्र २१ वर्ष की हो गयी थी।

उनके हृदय में प्रियतम परमात्मा से मिलने की जो विरह-वेदना थी, उसका अहसास किसी को भी नहीं था। सभी ने उन्हें पूर्व वाला झण्डूदत्त ही समझा। किसी के भी मन में उनके लिये आदर-सम्मान जैसी बात नहीं थी।

संसार निरंकुश है। वह बड़े से बड़े महापुरुष पर भी कीचड़ उछालने में परहेज नहीं करता। वस्तुतः वह उगते हुए सूरज का ही पुजारी होता है। वह डूबते सूरज का अपमान करते समय यह नहीं सोचता कि यह डूबता हुआ सूरज ही अगले दिन उगते हुए सूरज के रूप में दिखायी देने वाला है।

अपनी जन्मभूमि पहुँचने के बाद भी महाराज जी संसार के प्रति विरक्त ही रहे। वे गाँव से बाहर एक स्थान पर रहते थे। कभी कभार ही वे घर जाते थे।

वहाँ पर उन्होंने "सत्य धर्म" नामक एक सभा बनाई, जिसकी बैठक सप्ताह में एक दिन हुआ करती थी। उसमें गाँव के लोग उत्साहपूर्वक भाग लिया करते थे।

उस गोष्ठी में मात्र सत्य पर ही चर्चा हुआ करती थी। भजन और कीर्तन भी हुआ करता था। किसी सम्प्रदाय विशेष से उसका कोई भी सम्बन्ध नहीं था। महाराज जी हमेशा ही अपने आध्यात्मिक चिन्तन में लगे रहते, जिससे प्रभावित होकर काफी लोग उनके प्रति आदर-सम्मान का भाव रखने लगे।

हनुमान जी तथा दिव्य पुरुष से महाराज जी की

मित्रता थी ही। वे सभी समस्याओं का समाधान निकाल देते। कठिन से कठिन प्रश्नों का उत्तर भी हनुमान जी तथा दिव्य पुरुष के सहयोग से मिल जाया करता था, जिसे सुनकर श्रोतागण भौंचक्के रह जाया करते थे।

कभी-कभी महाराज जी हरिद्वार आदि भी चले जाते। मेंहदी में जिस प्रकार लाली छिपी होती है, उसी प्रकार महाराज जी के अन्दर भी हनुमान जी और दिव्य पुरुष मिल गये थे।

लेकिन उनके मन में शान्ति नहीं थी। वे हमेशा यही बात सोचते रहते कि यदि प्रियतम परमात्मा को नहीं पाया, तो मात्र मेरे घर छोड़ देने से क्या लाभ है। वर्तमान में तो मेरी आयु की एक-एक साँस बीती जा रही है। वे विरह-वैराग्य में व्याकुल होकर अपने मन में यही विचारा करते कि वे दिन कब आयेंगे जब मैं सद्गुरु की चरण –

धूलि को अपने मस्तक पर धारण करूँगा, अपने निज स्वरूप तथा परमात्मा का साक्षात्कार करूँगा, और मेरे काम, क्रोध आदि शत्रु पूर्णतया नष्ट हो जायेंगे?

महाराज जी के अन्दर अपनी आत्मा के अखण्ड आनन्द "निजानन्द" को पाने की प्यास बढ़ती ही गयी। उनका वैराग्य अपने चरम पर पहुँचने लगा। संसार की कोई भी वस्तु उन्हें अच्छी नहीं लगती थी। परिवार से उनका लगाव पूर्णतया समाप्त हो गया तथा खाने-पीने में भी कोई रुचि नहीं रह गई।

महाराज जी ने अपनी पत्नी तथा छोटे भाई बुद्धिदास जी को बुलाया और अपने वैराग्य की बात बतायी। उन्होंने उनसे स्पष्ट कह दिया कि उनका मन संसार में जरा भी नहीं लगता है। वे परिवार को सम्भालें तथा उन्हें घूमने जाने की स्वीकृति दें।

परिवार वालों को तो सान्त्वना देने के लिये उन्होंने ऐसा कह दिया, किन्तु अपने मन में यह दृढ़ निश्चय कर रखा था कि जब तक अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर लेंगे तब तक घर नहीं लौटेंगे, भले ही प्राण क्यों न निकल जाएँ।

दृढ़ संकल्प वाला व्यक्ति ही सफलता प्राप्त करता है। चंचल मन और धैर्यहीन स्वभाव वाला व्यक्ति सफलता से कोसों दूर रहता है।

इन छः सालों के अन्दर महाराज जी के दो पुत्र ओमदत्त और सोमदत्त, तथा एक बच्ची का जन्म हो चुका था। एक बच्ची घर छोड़ने से पहले ही थी। प्रियतम को पाने की प्यास में उन्होंने इन सबको छोड़ दिया और अटल संकल्प के साथ घर से निकल पड़े।



## (१०)

अपने प्राण प्रियतम को पाने लिये महाराज जी ने दूसरी बार गृह का त्याग किया। इस बार उन्होंने यह प्रण कर लिया कि बिना परमात्मा को पाये वे घर नहीं लौटेंगे, परिणाम चाहे कुछ भी हो।

घर से निकलते समय उन्होंने सबसे भेंटकर प्रणाम किया। पुनः उसी राह पर चलना प्रारम्भ किया, जिस राह पर पहली यात्रा की थी।

महाराज जी जगन्नाथ पुरी में कुछ दिन तक ठहरे। वहाँ एक मारवाड़ी से कई दिनों तक सत्संग हुआ। आठ दिन के बाद वे पदयात्रा द्वारा ताण्डूर पहुँचे।

वहाँ पर महाराज जी की भेंट गुलबर्गा के महन्त से हुई। उनकी जन्मभूमि हैदराबाद की थी। महाराज जी के



प्रति उनके हृदय में बहुत अधिक स्नेह भाव था। वे उन्हें अपने साथ ही गुलबर्गा ले गये।

गुलबर्गा में जोदी नामक एक नदी बहती है, जिसके संगम पर मुचुकन्दा और संकट मोचनी नामक दो नदियाँ मिलती हैं। यवन लोग इन दोनों नदियों को ईसा और मूसा कहकर पुकारते हैं।

गुलबर्गा के महन्त जी ने महाराज जी को विरक्त भेष दिया और मठ के संचालन का सारा उत्तरदायित्व सौंप दिया। मठ की व्यवस्था सम्भालने के बाद भी महाराज जी का आत्मिक चिन्तन कम नहीं हुआ। वे मात्र आधे ही घण्टे शयन करते थे, शेष समय गीता के चिन्तन-मनन एवं ध्यान-साधना में लगाया करते। इस प्रकार वहाँ ढाई वर्ष का समय बीत गया।

महाराज जी का प्रबन्ध कार्य अति उत्तम था। उनके प्रबन्धन काल में मन्दिर की आय में भी वृद्धि हुई तथा महात्माओं को सभी प्रकार की सुविधाएँ भी प्राप्त हुई। किसी को किसी भी प्रकार की शिकायत का अवसर ही नहीं मिला। किन्तु महाराज जी को यह कार्य बन्धन की तरह लगने लगा। वे घर से तो चले थे परमात्मा को पाने, लेकिन यहाँ किसी और ही बन्धन में बन्ध गये थे। उनका हृदय इन बन्धनों से मुक्त होने के लिये छटपटा रहा था।

एक दिन महन्त जी ने महाराज जी के नाम से मठ की वसीयत लिखवायी और उसकी रजिस्ट्री कराने के लिये अधिकारी के पास गये। महन्त जी महाराज जी को अपनी गादी पर बैठाना चाहते थे।

सौभाग्यवश उस दिन कार्यालय में छुट्टी थी, इस कारण रजिस्ट्री नहीं हो सकी। सबको खाली हाथ ही

लौटना पड़ गया। रजिस्ट्री न हो पाने से महाराज जी बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने परमात्मा को धन्यवाद दिया कि किस प्रकार उनकी कृपा से वे गादी के बन्धन में फँसने से बच गये।

सवेरे ही वे महन्त जी के पास गये और रजिस्ट्री के सभी कागजात उनको सौंप दिए तथा प्रणाम करके बोले— "महाराज जी! मैं आपसे विदा चाहता हूँ।"

"क्यों! यहाँ क्या कष्ट है, जो तुम यहाँ से जाना चाहते हो?"

"कष्ट तो कुछ भी नहीं है। यहाँ पर सभी सुविधाएँ हैं। किन्तु मेरे जीवन का उद्देश्य है परमात्मा का साक्षात्कार करना। मुझे ऐसा लगता है कि यहाँ रहकर मैं अपने लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर सकूँगा।"

"ध्यान-साधना तो तुम करते ही हो। यहाँ भी साधना करके तुम लक्ष्य तक पहुँच सकते हो।"

"मुझे ऐसे सद्गुरु की खोज है, जो मुझे भवसागर से पार होने का मार्ग बताए। मैं उन्हीं की खोज में भटक रहा हूँ। जब तक मैं उनको प्राप्त नहीं कर लूँगा, तब तक मुझे चैन नहीं मिलेगा।"

"तुम्हारे यहाँ रहने से मैं निश्चिन्त था। तुम्हारे चले जाने से तो मुझे बहुत कष्ट होगा। तुम्हारा किसी भी स्थिति में जाना मुझे स्वीकार नहीं है।"

"आपने मुझे बहुत स्नेह दिया है, उसे मैं हमेशा याद रखूँगा, लेकिन मैं मजबूर हूँ। मेरा हृदय सद्गुरु की खोज करके परमात्मा को पाने के लिये इतना व्याकुल है कि मेरे लिये एक-एक दिन काटना बहुत कठिन है। मैं यहाँ

से जाने के लिये क्षमा चाहता हूँ, लेकिन जाना मेरी विवशता है।"

यह सुनकर महन्त जी बहुत ही उदास हो गये, किन्तु वे करते भी क्या? स्वीकृति देना तो उनकी भी विवशता बन गयी। उन्होंने जाने की छूट तो दे दी, लेकिन अधूरे मन से।

अब तो महाराज जी बहुत प्रसन्न हुए। मठ की गादी के बन्धन से छुड़ाने के लिये उन्होंने परमात्मा को बारम्बार धन्यवाद किया।

वहाँ से महाराज जी चल पड़े। उनके पास बस एक छोटी सी कमली थी, लंगोटी थी, और धोती का टुकड़ा था। ताण्डूर से शोलापुर की यात्रा उन्होंने कुछ ही दिनों में कर डाली। वहाँ पञ्चमुखी हनुमान जी के मन्दिर में

ठहरे। वहाँ महात्माओं के साथ हमेशा ध्यान में ही लगे रहते।

शोलापुर (महाराष्ट्र) से चलकर वे पण्ढरपुर पहुँचे। वहाँ चन्द्रभागा नदी के सुन्दर किनारे पर रामबाग नामक मनोहर उद्यान था। वहाँ दो माह तक रुककर साधना करते रहे।

वहाँ से चलकर मनमाड, कल्याण होते हुए वे मुम्बई पहुँचे। वहाँ वालकेश्वर में दो माह तक रहकर आत्म-चिन्तन करते रहे। वहाँ रहने वाले साधु-महात्माओं के बीच हमेशा ही ब्रह्मज्ञान के सम्बन्ध में चर्चा चलती रहती थी।

एक महात्मा जी संगीत के कुछ ज्यादा ही प्रेमी थे। उनके हमेशा जोर-जोर से गाने से महाराज जी का ध्यान

भंग होने लगा। अतः उन्होंने द्वारिका जाने का निर्णय कर लिया।

जानकी बाई के जहाज पर बैठकर वे द्वारिका पहुँचे। वहाँ नृसिंह के मन्दिर में ठहर गये। प्रातःकाल वे दर्शन हेतु द्वारिका धाम गये। वहाँ की स्थिति बहुत ही विचित्र थी। प्रत्येक दर्शनार्थी को सत्रह आने कर के रूप में देना पड़ता था।

महाराज जी ने देखा कि वहाँ पर दर्शन करने वालों की दो पंक्तियाँ लगी हुई हैं। उन्होंने जब इसका कारण पूछा तो एक व्यक्ति ने बताया कि दर्शन करने के लिये पंक्तिबद्ध होकर चन्दन की छाप लगवानी पड़ती है। बिना कर अदा किये छाप नहीं लगती है। यदि पक्की छाप लगवा लेते हैं, तो जब तक उसका चिह्न रहेगा, तब तक वह दर्शन कर सकता है। किन्तु पक्की छाप के लिये पैसा

अधिक देना पड़ेगा।

महाराज जी के साथ यात्रा करने वाले एक महात्मा जी बोल पड़े- "आप चिन्ता न करें। मेरे पास पैसे हैं। हम दोनों को ही दर्शन मिल जायेगा।"

महाराज जी ने उत्तर दिया- "नहीं! मैं आपसे पैसे नहीं लूँगा। मुझे तो ऐसे ही दर्शन करना है।"

एक पंक्ति साधुओं और गरीबों की भी थी, जिनके पास पैसे तो नहीं थे लेकिन दर्शन की आस लगाये बैठे थे। वे लोग राधे-श्याम, राधे-श्याम की रट लगा रहे थे। महाराज जी भी उनकी पंक्ति में शामिल हो गये और उन्हीं की तरह राधे-श्याम, राधे-श्याम का जप करने लगे।

उसी समय बड़ोदरा से एक उच्च अधिकारी भी दर्शन



करने के लिये आया। उसके आते ही चारों ओर कोलाहल होने लगा। बिना पैसे वाले गरीब लोग उस अधिकारी के पाँव पकड़ने लगे तथा हाथ जोड़कर गिड़गिड़ा-गिड़गिड़ा कर कहने लगे कि आप हमें दर्शन करवा दीजिए, हम आपके कृतज्ञ रहेंगे। लेकिन ऐसा कौन दयालु था, जो उन बेचारों की आवाज सुनता?

अज्ञान के वशीभूत होकर मानव जड़-मूर्तियों के सामने अपना सिर पटकता है, रोता है, और विलखता है। यही प्रक्रिया वह वृक्षों, पहाड़ों, नदियों, और उसमें बहने वाले शालिग्राम पत्थरों के प्रति भी करता है। इतना प्रयास यदि वह अपने हृदय-मन्दिर में करे, तो करोड़ों सूर्यों के समान प्रकाशमान परमात्मा का सरलता से साक्षात्कार कर सकता है।

महाराज जी ने जब देखा कि इन बदनसीबों की

कोई सुनने वाला ही नहीं है, तो उन्होंने उस अधिकारी को जोर-जोर से सुनाते हुए बोलना प्रारम्भ कर दिया—

"साधुजनों और गरीब भाइयों! क्या तुम्हें अभी भी यह बात समझ में नहीं आयी कि ये द्वारिकानाथ केवल पैसे वालों के हैं। ये तुम जैसे कंगालों से बात करने के लिये नहीं हैं। इनके दर्शन के पीछे पागल होकर तुम अपना अपमान क्यों करवाते हो? यदि तुम्हें दर्शन करने का ही जुनून है, तो पहले घर-घर जाकर भिक्षा माँगो। सत्रह आने इकट्ठा करो, तभी भगवान दर्शन देंगे। यदि राधेश्याम-राधेश्याम जपना है, तो जँगल में क्यों नहीं चले जाते?"

यह आवाज उस अधिकारी के कानों में पहुँच गयी। वह महाराज जी के पास आकर बोला— "अभी आप किससे बातें कर रहे थे और उन्हें क्या सुना रहे थे?"

महाराज जी ने निर्भीकता से उत्तर दिया- "मैं तो इन साधु-महात्माओं को सुना रहा था। इनकी यहाँ कोई भी सुनने वाला नहीं है। ये लोग भगवान के दर्शन की कामना से सवेरे ही आकर बैठ जाते हैं, किन्तु शाम तक इनको दर्शन का सौभाग्य प्राप्त नहीं हो पाता। तब ये बेचारे निराश होकर चले जाते हैं। ये कहाँ से लायें सत्रह आने? ये तीन दिन भी यदि भिक्षा माँगे, तो भी सत्रह आने एकत्रित नहीं कर पायेंगे।"

अधिकारी को सारी बात समझ में आ गयी। उसने मन्दिर के कर्मचारियों और प्रबन्धकों से कहा- "जब इन लोगों के पास एक फूटी कौड़ी भी नहीं है, तो ये लोग आपको सत्रह आने कहाँ से लाकर देंगे? इनको भी दर्शन करने की स्वीकृति दो।"

तभी एक व्यक्ति चन्दन की छाप लेकर आया।

उसने महाराज जी को सबका नेता मान लिया, क्योंकि उन्होंने ही सबसे अधिक शोर मचाया था।

जैसे ही वह व्यक्ति महाराज जी को चन्दन की छाप लगाने के लिए आगे बढ़ा, महाराज जी ने उससे कहा— "मुझे यह कच्ची छाप नहीं लगवानी है। यदि आपको लगानी ही है, तो पक्की छाप लगाइये। मुझे यहाँ एक महीने तक ठहरना है।"

वह व्यक्ति कुछ देर सोचता रहा। फिर उसने महाराज जी को तो पक्की छाप लगा दी और शेष सभी महात्माओं को कच्ची छाप लगायी।

मन्दिर ज्ञान के प्रसार एवं जन-जाग्रति के केन्द्र होने चाहियें, न कि अर्थोपार्जन के। मन्दिरों में चढ़ाया जाने वाला धन ज्ञान से रहित पुजारियों, पण्डों, और

मठाधीशों को अध्यात्म के सच्चे आनन्द से वंचित कर देता है।

महाराज जी जितने भी दिन द्वारिकापुरी में रहे , मन्दिर दर्शन करने के लिये प्रतिदिन आते रहे। वहाँ से वे अमदाबाद, राजकोट होते हुए सूरत पहुँचे। वहाँ कुछ दिन ठहरकर नासिक होते हुए पंचवटी आये। कुछ दिनों तक उन्होंने तपोवन में रामकुटी में निवास किया। उसके पश्चात् अमलनेर और धूलिया होते हुए सोनगीर जा पहुँचे।

धूलिया में एक व्यक्ति ने महाराज जी को बताया कि यहाँ पर एक बड़े ही उच्च कोटि के महात्मा रहते हैं, वह उनको लेकर सोनगीर भी आया।

महाराज जी उस राम मन्दिर में ठहरे, जहाँ उस व्यक्ति ने बताया था। उस रात महाराज जी इस मन्दिर में

ध्यान में बैठे थे। ध्यान की गहराइयों में पहुँचते ही प्राणवायु दशम द्वार में स्थित हो गयी, जिसका परिणाम यह हुआ कि श्वास-प्रश्वास की गति रुक सी गयी। शरीर की स्थिति मृतक के समान हो गयी।

चारों ओर यह बात आग की तरह फैल गयी कि राम मन्दिर में एक महात्मा का देह-त्याग हो गया है।

महाराज जी को समाधि देने के लिये चारों ओर से तैयारियाँ शुरू हो गयीं। चन्दा इकट्ठा किया गया तथा कफन इत्यादि की भी व्यवस्था कर ली गयी। शरीर की जाँच करने के लिये वैद्य लोग भी एकत्रित होने लगे।

महाराज जी को देखने के लिये काफी लोग आ गये थे। अचानक ही एक ऐसे महापुरुष आये, जिनको देखते ही सभी लोग किनारे हो गये। उन्होंने महाराज जी का

हाथ पकड़कर नाड़ी की जाँच की और उनके चेहरे की ओर ध्यान से देखते हुए बोले- "ये महात्मा तो समाधि की अवस्था में हैं। जो इनको मरा समझता है, वह बकवास करता है।"

उन्होंने सभी लोगों को महाराज जी के पास से हटाया और एक व्यक्ति को घर भेजा, जो एक झोली लेकर आया। उसमें से उन्होंने गुलाबजल निकालकर महाराज जी के मुख पर छिड़क दिया।

आश्चर्य, थोड़ी ही देर में महाराज जी की समाधि टूट गयी। जैसे ही उन्होंने अपनी आँखे खोलीं, उनको देखते ही लोग सन्न रह गये। वे तो उन्हें मरा हुआ समझ रहे थे, जबकि वे तो जीवित थे।

अब तो सभी लोग मन ही मन बहुत पश्चाताप कर

रहे थे कि यदि हमने इनको मिट्टी में समाधि दे दी होती , तो अनजाने में ही हमारे सिर पर ब्रह्म-हत्या का अमिट पाप लग जाता।

वे महात्मा जी बड़े ही तेजस्वी थे। उनका नाम स्वामी नारायण दास जी था। उनके आध्यात्मिक तेज से महाराज जी बहुत प्रभावित हुए।

उन दिव्य पुरुष से महाराज जी की बहुत देर तक वार्ता होती रही। उन्होंने महाराज जी से सारा परिचय लिया और उनके हृदय की सारी भावनाओं को जाना। उन दोनों की बातों को सुनने की प्रबल इच्छा सभी के अन्दर थी।

उन महान पुरुष ने महाराज जी से कहा- "यहाँ से लगभग डेढ़ मील की दूरी पर सोमेश्वर नामक एक बहुत



ही सुन्दर स्थान है। शिव जी का यह मन्दिर आठ पहाड़ों के घेरे में है। आप जरा वहाँ जाकर देख लीजिए। निश्चित रूप से वह स्थान ध्यान-साधना के लिये बहुत ही अच्छा है।"

यह सुनते ही कुछ लोगों ने कहा – "महाराज! आप इनको वहाँ न भेजिए। सारे नगर में यह बात प्रसिद्ध है कि वहाँ पर प्रेतात्माएँ रहती हैं। आज तक कोई भी पुजारी या महात्मा वहाँ पर रह नहीं पाया है, तो इनको वहाँ क्यों भेज रहे हैं?"

उन्होंने सान्त्वना देते हुए महाराज जी से कहा – "आप किसी भी प्रकार की चिन्ता न करें। मैं प्रतिदिन आपसे वहाँ पर मिला करूँगा।"

महाराज जी ने उनके कथनों को ब्रह्म-वाक्य के

समान माना और तुरन्त वहाँ से सोमेश्वर के लिये चल दिए। अपने वचनों के अनुकूल उन्होंने महाराज जी को दर्शन दिया। वे प्रतिदिन ही नित्य कर्मों से निवृत्त होकर महाराज जी के पास आया करते तथा अखण्ड ज्ञान की रसधारा उनके हृदय में उड़ेला करते।

इस स्थान पर महाराज जी ने अपनी साधना करनी प्रारम्भ की। वे स्वयं ही भोजन बनाया करते तथा शेष समय ध्यान-साधना में व्यतीत करते। प्रतिदिन आठ घण्टे ध्यान में डूबे रहते।

यहाँ पर महाराज जी ध्यान की गहराइयों में डूबे रहते। कभी-कभी तो प्राण की गति ऊपर हो जाने से शरीर बिल्कुल ही सूखी लकड़ी की तरह से जड़ हो जाया करता। कभी-कभी उनका शरीर जमीन पर लुढ़क जाया करता था, जिसमें प्रायः उनके हाथ-पैर दब जाया

करते थे।

उस समय उनका शरीर मात्र हड्डियों का ढाँचा था। सिर के बालों में जुएँ पड़ गए थे। ध्यान में शरीर की जड़ता इतनी अधिक बढ़ जाती थी कि उनका शरीर मृतक की तरह ही हो जाता था। दशम द्वार में प्राणों के स्थित हो जाने के कारण नाड़ी की गति बहुत धीमी पड़ जाती थी। ऐसा प्रतीत होता था कि जैसे साँस भी नहीं चल रही हो। कभी-कभी तो वे करवट भी नहीं बदल पाते थे।

स्वामी श्री नारायण दास जी महाराज की कृपा से महाराज जी का शुष्क ध्यान के प्रति रुझान कम होने लगा। धीरे-धीरे उनकी आत्मा परमधाम के अनन्य प्रेम-रस में स्वयं को डुबाने लगी। महाराज जी के मन में तो पहले से दृढ़ वैराग्य था, किन्तु अब वह स्वामी

नारायण दास जी की कृपा से प्रियतम परब्रह्म के प्रेम में रमण करने लगे।

सद्गुरु नारायण जी ने महाराज जी को इतना आत्मिक प्रेम दिया कि वे निहाल हो उठे। वे फूलों के अन्दर खाने का प्रसाद तथा पुष्पहार ढक कर लाते। स्वयं खिलाते तथा फूलों के हार पहनाते। सद्गुरु के इस अलौकिक प्रेम का परिणाम यह हुआ कि महाराज जी को परमधाम की लीला एवं शोभा की झलक मिलने लगी। दिन पर दिन महाराज जी इतने अधिक आनन्द में डूबने लगे कि सम्पूर्ण शरीर की चाल-ढाल ही बदल गई। जब वे अपनी आँखों की पलकों को उठाते, तो ऐसा लगता कि बोझ उठा रहे हैं। उन्हें भूत और भविष्य की सारी बातें नजर आने लगीं।

वहाँ पीपल के पेड़ के नीचे मन्दिर में रहते-रहते

डेढ़ वर्ष बीत गये। कई आश्चर्यजनक घटनायें घटती रहीं। कभी-कभी तो उनके आसन पर ही भयानक सर्प आकर बैठ जाया करते थे। जब महाराज जी संकेत देते, तो वे भाग जाया करते। उनका साथ साँपों से बना रहता। मनुष्य तो बहुत कम ही उनके पास आते थे। महाराज जी उस पीपल के पेड़ के नीचे ध्यान लगाया करते थे।

एक रात.....जोर-जोर से आवाज आने लगी—  
"महाराज जी! महाराज जी! महाराज जी!"

इस प्रकार की आवाज तीन रात तक आती रही, लेकिन महाराज जी कुछ भी नहीं बोले। चौथी रात पुनः इसी प्रकार की आवाज आने लगी— "महाराज जी! महाराज जी! महाराज जी!"

इस प्रकार ध्यान में बाधा पड़ने से महाराज जी को

कुछ क्रोध-सा आ गया और वे कठोर स्वरों में बोले – "कौन हो तुम? तुम्हारी क्या इच्छा है? तुम अपनी बात कहते क्यों नहीं?" इसके बाद कभी भी आवाज नहीं आयी। महाराज जी ने भी कभी स्वामी श्री नारायण दास जी से इस घटना का वर्णन नहीं किया।

अन्तर्यामी सद्गुरु ने एक दिन अचानक ही महाराज जी से कहा– "शहर के पास ही एक स्थान है, वहाँ पर आप आ जाइए। वहाँ पर मैं भी बहुत सरलता से आ सकता हूँ तथा आपके भोजन का सामान भी आसानी से पहुँचाया जा सकता है।"

महाराज जी ने उनकी आज्ञा को शिरोधार्य कर एक खाली पड़े हुये खेत में अपना आसन लगा लिया। नजदीक हो जाने से सद्गुरु महाराज कुछ तड़के ही आने लगे, जिससे चर्चा-सत्संग के लिये अधिक समय मिलने

लगा।

सद्गुरु श्री नारायण दास जी से होने वाली चर्चा से महाराज जी के मन का सारा संशय समाप्त हो गया। अब तो उनके लिए यह सारा जगत् ही निःसार लगने लगा। वे इतने अधिक अन्तर्मुखी हो गये कि उन्हें अपने शरीर या संसार की कोई भी सुध रहती ही नहीं थी।

**ज्ञान के द्वारा ही ईमान दृढ़ होता है। बिना ईमान के प्रेम नहीं और बिना प्रेम के प्रियतम परब्रह्म से मिलन सम्भव नहीं है।**

महाराज जी आत्मिक आनन्द में इतने अधिक डूब गये थे कि न तो उनके कान किसी आवाज को सुनने के लिये तैयार थे और न ही आँखें कुछ देखना चाहती थीं। यहाँ तक कि प्रबल जिह्वा भी किसी स्वादिष्ट पदार्थ के

प्रति जरा भी आकर्षित नहीं हो पाती थी। चर्चा-सत्संग का अमृत सद्गुरु महाराज के मुखारविन्द से प्रवाहित हो रहा था और महाराज श्री राम रतन दास जी का हृदय उसे ग्रहण कर आनन्द के सागर में डूब रहा था।

महाराज जी के धाम-हृदय में सद्गुरु की छवि अखण्ड रूप से बस चुकी थी। उन्हें ऐसा प्रतीत होता था जैसे साक्षात् सद्गुरु महाराज ही उनके अन्दर आकर बैठ गये हों। यदि बाह्य शारीरिक दृष्टि से वे अपने सद्गुरु से दूर होते, तो भी उन्हें यही प्रतीत होता कि वे तो मेरे अन्दर ही हैं। किसी भी प्रश्न का समाधान वे अपने हृदय में विराजमान सद्गुरु के स्वरूप से कर लेते और पल-पल अपने सामने ही सद्गुरु को उपस्थित हुआ अनुभव करते।

महाराज जी की वाणी अमोघ थी। वे अपने मुख से



जो कुछ भी कह देते, वह अटल सत्य था। भविष्य में घटित होने वाली प्रत्येक घटना का दृश्य उनके ज्ञान-चक्षुओं में स्थित हो जाता था।

सद्गुरु की जड़ मूर्ति बनाकर उसकी आरती-पूजा करने की अपेक्षा हृदय में उनका स्वरूप बसाना अधिक कल्याणकारी है। निश्चित रूप से जड़ की पूजा करने से हृदय द्वारा की जाने वाली चिन्तन, मनन, एवं विवेचन प्रक्रियाओं में जड़ता का समावेश हो जाता है।

अपने हृदय में विराजमान सद्गुरु के स्वरूप से महाराज जी हमेशा ही वार्ता करते रहते। यदि परमधाम के किसी पक्ष को देखने की इच्छा महाराज जी के मन में होती, तो हृदय में स्थित सद्गुरु महाराज जी उन्हें अवश्य ही दिखाते। इस प्रकार उन्होंने अपने सद्गुरु की अनन्त कृपा का रसास्वादन किया।

एक दिन.....महाराज जी ने अपने सद्गुरु श्री नारायण दास जी से प्रार्थना की- "हे सद्गुरु महाराज! आपने मेरे जैसे तुच्छ व्यक्ति पर जिस प्रकार की अलौकिक कृपा की है, उसका वर्णन शब्दों में सम्भव नहीं है। मैं जिस भी प्रश्न का उत्तर चाहता हूँ, उसे आप तुरन्त बता देते हैं, तथा परमधाम के भी जिस पक्ष को देखना चाहता हूँ, सो दिखा देते हैं। आपके दिये हुए आनन्द से तो मैं पूर्ण रूप से निहाल हो चुका हूँ। आध्यात्मिक दृष्टि से मेरे जैसे कंगाल व्यक्ति को भी आपने मालामाल कर दिया है। यदि मैं इस सम्पूर्ण सृष्टि को भी हजारों बार आपके चरणों में समर्पित कर दूँ, तो भी आपकी कृपा के एक कण का भी मूल्य नहीं दे सकता हूँ। हे कृपानिधान! मेरे सद्गुरु महाराज! जब आपने इतनी कृपा की है, तो एक कृपा और कर दीजिए कि मेरे धाम

हृदय में हमेशा-हमेशा के लिये विराजमान हो जाइए।"

"भाई! तुम चिन्ता क्यों करते हो। मैं तो हमेशा ही तुम्हारे हृदय में विराजमान रहता हूँ। तुम से पल भर भी अलग नहीं रहता।"

यह सुनकर महाराज जी ने अपने सद्गुरु महाराज के चरण पकड़ लिये। महाराज जी के हृदय में ऐसा भाव उत्पन्न हो रहा था कि सद्गुरु के ये चरण-कमल कभी भी उनके हृदय से अलग न हों।

महाराज जी की इस प्रकार की भावना को देखकर पहले तो श्री नारायण दास जी मौन रहे, किन्तु फिर बोले- "अच्छा, तुम सिद्धासन में बैठ जाओ।"

महाराज जी ने अपने सद्गुरु महाराज के आदेश का पालन किया। वे सिद्धासन में बैठकर उनकी छवि को

अपने हृदय में बसाने लगे।

कुछ ही क्षणों के पश्चात् महाराज जी को ऐसा आभास हुआ, जैसे कोई शक्ति उनके अन्दर प्रवेश कर रही है। उस शक्ति के अन्दर प्रवेश करते ही महाराज जी में बहुत अधिक परिवर्तन आ गया।

महाराज जी को ऐसा लगने लगा कि बड़ा से बड़ा प्रभावशाली एवं धनवान व्यक्ति भी कीड़े-मकोड़े की तरह है। प्रत्येक प्रश्न का उत्तर वे मात्र दो शब्दों में दे देते थे। तर्क-वितर्क करने वाला तो उनके हाथों पिटकर ही वहाँ से उठता था। यह सब कुछ सद्गुरु महाराज द्वारा दी गई "जोश" शक्ति के कारण हो रहा था।



## (११)

एक बार.....एक अध्यापक ने महाराज जी से आकर कोई प्रश्न पूछा। महाराज जी ने दो शब्दों में उत्तर देकर समझाया।

लेकिन.....वह महाराज जी के कथन को पूर्ण रूप से समझ नहीं पाया तथा अपनी विद्वता का प्रदर्शन करते हुए तर्क-कुतर्क करने लगा।

महाराज जी ने उसे बहुत देर तक समझाया तथा उसके ही मुख से उस प्रश्न का विस्तृत उत्तर भी कहलवा दिया। थोड़ी देर के पश्चात् वह पुनः आया तथा महाराज जी द्वारा कहे हुए शब्दों को अपनी भाषा में अपना कहा हुआ मानकर भाषण देने लगा।

यह बात महाराज जी को बुरी लगी तथा उन्होंने

उसके मुख पर एक चाँटा मार दिया। चाँटा खाते ही अध्यापक अपनी जगह से उठकर खड़ा हो गया तथा दुःखी होकर बोला— "आप तो सत्संग में मारते भी हैं। अब मैं कभी भी आपके पास चर्चा-सत्संग के लिये नहीं आऊँगा।"

महाराज जी को भी अपने इस प्रकार के व्यवहार पर हार्दिक पीड़ा अवश्य हुई, किन्तु वे कर भी क्या सकते थे? उनका अपना वश नहीं था। यह सारी लीला तो जोश की शक्ति के कारण ही हो रही थी।

महाराज जी ने भी उस अध्यापक को कह दिया— "ठीक है, मत आना कभी, चले जाओ।"

सत्य को जानने के लिये तर्क का आधार अवश्य लेना चाहिए, किन्तु कुतर्क का नहीं। तर्क सत्य को

जानने की भावना से किया जाता है, जबकि कुतर्क सत्य को मिटाने एवं असत्य को प्रकाश में लाने के लिये किया जाता है। तर्क जहाँ ऋतम्भरा या सात्त्विक प्रज्ञा के निर्देशन में होता है, वहीं कुतर्क रजोगुण या तमोगुण से ग्रसित पक्षपात युक्त बुद्धि द्वारा निर्देशित होता है।

तीन दिन बीत जाने पर भी जब वह अध्यापक नहीं आया, तो महाराज जी को अपने कठोर शब्दों पर ग्लानि हुई। वे सद्गुरु महाराज श्री नारायण दास जी के पास गये और सारी घटना सुनाकर बोले—

"सद्गुरु महाराज! वह अध्यापक विगत तीन दिनों से नहीं आया है। उसने प्रतिज्ञा की है कि वह कभी भी नहीं आएगा। मेरी इच्छा है कि वह एक बार अवश्य आए, भले ही बाद में कभी न आए।"

सारी बात सुनकर सद्गुरु श्री नारायण दास महाराज ने उत्तर दिया— "चिन्ता मत करो। वह आज अवश्य आयेगा।"

महाराज जी की कुटिया के सामने ही साप्ताहिक पैठ लगा करती थी। सोनगीर की जनता अपनी आवश्यक वस्तुएँ यहीं से ले लिया करती थी। वह अध्यापक भी इसी भाव से शाम को पैठ में आया।

आया तो था वह सामान खरीदने, लेकिन वह खरीदारी करना ही भूल गया। उसके मन में उथल – पुथल होने लगी। उसे ऐसा लगा कि कोई अज्ञात शक्ति उसे कुटिया की तरफ खींच रही है। वह यन्त्रवत् कुटिया की तरफ अपने पाँव बढ़ाने के लिए मजबूर हो गया। थोड़ी ही देर में वह कुटिया के दरवाजे पर खड़ा था।



महाराज जी ने जब उस अध्यापक को दरवाजे पर खड़ा हुआ देखा, तो संकेत से स्वामी नारायण दास जी से बोले— "सद्गुरु महाराज! देखिए, वह आ गया है। दरवाजे पर खड़ा तो है, लेकिन अभी असमंजस में है कि अन्दर चलूँ या न चलूँ।"

सद्गुरु महाराज बोले— "तुम चुपचाप बैठे-बैठे देखते रहो। जो घर से चलकर कुटिया के दरवाजे तक आया है, वह अन्दर भी अवश्य आयेगा।"

कुछ देर तक तो अध्यापक दरवाजे पर खड़ा-खड़ा सोचता रहा, किन्तु थोड़ी देर के बाद अनायास ही उसके कदम दरवाजे के अन्दर बढ़ने लगे।

उसको अन्दर की ओर आते हुए देखकर महाराज जी ने स्वागत करते हुए कहा— "आइए! आइए! लगता

है, शायद आप अपनी प्रतिज्ञा भूल गये हैं। कोई बात नहीं, इस संसार में बहुत सी प्रतिज्ञाएँ भुलानी पड़ती हैं।"

इस प्रकार के व्यंग्यात्मक कथन को सुनकर वह अध्यापक बोला— "पहले तो मैं एक बार ही आया करता था, अब बार-बार आया करूँगा। यदि आप बार-बार मारेंगे, तो भी मैं आना बन्द नहीं करूँगा। मुझे मारने पर आपका ही हाथ दुखेगा। इसमें मेरा कुछ भी नुकसान नहीं होगा।"

"आप शान्त-चित्त होकर मेरी बात सुनिए और यदि अच्छा लगे, तो सोच-समझ कर उत्तर दीजिए।"

"आप कहिए, मैं अवश्य उत्तर दूँगा।"

"आप सावधान होकर मेरी बात सुनिए। आप बच्चों

को पढ़ाते हैं। यदि कोई बच्चा आपके पढ़ाये हुए पाठ को याद नहीं करता है और आपके हाथों पिटने के कारण नाराज होकर घर बैठ जाता है, तो यह बताइए कि इससे आपको या विद्यालय को कितना नुकसान हो सकता है?"

अध्यापक ने उत्तर दिया— "कुछ भी नहीं।"

यह कहकर अध्यापक चुप हो गया।

महाराज जी ने पुनः बोलना प्रारम्भ किया— "यदि आप भूलवश यहाँ आ गये हैं, तो अभी चले जाइए। पुनः भविष्य में आने की गलती न करना।"

यह सुनते ही वह अध्यापक मोम की तरह कोमल बन गया। वह भावुक होकर बोला— "प्रभो! मुझसे भूल हो गयी थी, अब मुझे क्षमा करने की कृपा करें।"

इस घटना के पश्चात्, वह अध्यापक महाराज जी का बहुत अधिक आदर और सम्मान करने लगा। महाराज जी के विचित्र स्वभाव के बारे में चारों ओर चर्चा फैल चुकी थी।

सद्गुरु श्री नारायण दास जी के अन्दर श्री प्राणनाथ जी की छवि विराजमान थी, लेकिन वहाँ के लोग उनकी पहचान नहीं कर सके थे। वे यही मानते थे कि ये तो हमारे ही बीच में से हैं।

उन्होंने भी अपने स्वरूप पर पर्दा डाल रखा था। अपने को छिपाने के लिये वे ठठेरे का कार्य करते थे, जिससे सभी लोग यही समझते रहे कि ये तो सांसारिक व्यक्ति हैं।

इसके विपरीत महाराज जी को सिद्ध और विरक्त

मानकर सभी लोग सम्मान करते थे।

यह कहावत बिल्कुल सच है कि "गाँव का जोगी जोगना, आन गाँव का सिद्ध"। सोनगीर गाँव के लोग सद्गुरु नारायण दास जी के स्वरूप की पहचान न कर सकने के कारण उन्हें सम्मान नहीं दे सके थे।

सोनगीर और उसके आसपास के लोग अपने कष्टों की निवृत्ति के लिये महाराज जी के पास आते रहते। जब महाराज जी उन्हें आशीर्वाद दे देते, तो निश्चित रूप से उनका संकट टल जाता था। बड़े से बड़ा रोग भी उनकी कृपा से ठीक हो जाता था। उनकी वाणी अमोघ थी। आशीर्वाद रूप में वह अवश्य ही फलीभूत होती थी। इन सब कारणों से गाँव के लोग महाराज जी के प्रति बहुत अधिक श्रद्धा रखते थे।

लेकिन, इस प्रक्रिया से महाराज जी की साधना में बहुत बाधा पड़ती थी। जब देखो, तब कोई न कोई दरवाजे पर खड़ा ही रहता। उन्हें तो केवल अपने कष्टों से मुक्ति चाहिए थी।

यह संसार उस व्यापारी की तरह है, जो अपनी थोड़ी सी श्रद्धा और द्रव्य की भेंट के बदले सभी कष्टों से छुटकारा पा लेना चाहता है। उसकी यही प्रवृत्ति परमात्मा के प्रति भी होती है। यदि उसके हृदय में किसी परमहंस या सच्चिदानन्द परमात्मा के प्रति सच्चा प्रेम होता, तो वह न तो तृष्णाओं के जाल में कभी फँसता और न ही दुःखों की अग्नि में जलता।

एक दिन सोनगीर का एक व्यक्ति महाराज जी के पास आया और सद्गुरु श्री नारायण दास जी को कटु शब्दों से सम्बोधित करने लगा।

अपने सद्गुरु के प्रति कटु शब्दों को सुनकर महाराज जी का हृदय बहुत दुःखी हुआ। उन्होंने उसे बार-बार मना किया कि वह इस प्रकार न बोले, किन्तु वह तो उद्वण्डता और मूर्खता की प्रतिमूर्ति था।

वह निश्चय कर चुका था कि भले ही मर जाये, लेकिन वहाँ से उठेगा नहीं और सद्गुरु महाराज को अवश्य ही अपशब्द बोलेगा। जब पानी सिर के ऊपर से बहने लगा, तो महाराज जी के मुख से ये शब्द निकल ही पड़े— "तुझे तो मरना ही पड़ेगा, लेकिन अपने घर जाकर मरना। यहाँ से चला जा।"

किसी तरह महाराज जी ने उसे वहाँ से हटाया। जब वह घर पहुँचा, तो उसकी मरणासन्न अवस्था हो गयी। उसकी नाड़ी बन्द होने लगी तथा आँखें फिरने लगीं। घर में कोहराम मच गया। घर के लोग छाती पीट-पीटकर

रोने लगे।

यह देखकर पड़ोस के लोग इकट्ठे हो गये। कोई कहता था कि इसने विष या नशीला पदार्थ खा लिया है, तो कोई कहता था कि इसकी अपान वायु कुपित हो गयी है अर्थात् गैस चढ़ गयी है। किसी का यह भी कहना था कि कहीं कोई प्रेत-बाधा तो नहीं लग गयी। कोई उसे रोगग्रस्त समझ रहा था, तो कोई कुछ का कुछ बोल रहा था।

किन्तु उन लोगों में एक ऐसा भी व्यक्ति था, जिसने थोड़ी देर पहले ही उसे महाराज जी के पास बैठे हुए देखा था। वह बोल पड़ा- "मैंने तो इसे सीतारामी बाबा के पास बैठे हुए देखा था।"

यह सुनकर सबका ध्यान महाराज जी की ओर



गया। सीताराम जी के मन्दिर में ही ध्यानावस्था में महाराज जी की अवस्था मरणासन्न हो गयी थी। उस घटना के पश्चात् उनका नाम उस इलाके में "सीतारामी बाबा" पड़ गया था।

जब अधिकतर लोगों के मन में यह बात घर कर गयी कि सीतारामी बाबा ने ही कुछ कर दिया है। उन्हीं की कोप-दृष्टि से इसकी हालत बिगड़ी है। बस, फिर क्या था? महाराज जी को मनाने के लिये घर के लोग दौड़ पड़े और उनके चरणों में आकर लोट गये।

करुण स्वर में उन्होंने प्रार्थना की – "हे महाराज! उससे क्या अपराध हुआ है, जो आपने उसे मृत्यु के नजदीक पहुँचा दिया है। अभी-अभी तो वह आपके पास भला-चंगा बैठा था, लेकिन घर जाते ही उसकी ऐसी स्थिति बन गयी जैसे मृत्यु सिर पर नाच रही हो।"

महाराज जी ने उत्तर दिया- "भाई! मुझे क्या मालूम? वास्तविकता या तो मेरे सद्गुरु महाराज जानते हैं, या वह जानता होगा कि उसकी स्थिति इतनी क्यों बिगड़ गयी? आप सद्गुरु महाराज के पास जाइए। एकमात्र वे ही उसका कल्याण करेंगे।"

उन लोगों ने महाराज जी से बहुत प्रार्थना की कि वे उनके साथ ही घर चलें और कृपा करें, लेकिन महाराज जी ने स्पष्ट मना कर दिया और कह दिया- "जब तक सद्गुरु महाराज नहीं जायेंगे, तब तक मैं भी नहीं जाऊँगा।"

थक-हारकर वे लोग स्वामी श्री नारायण दास जी के पास पहुँचे। बहुत प्रार्थना करने पर वे जाने के लिये तैयार हुए। सद्गुरु को जाता देखकर महाराज जी भी चल दिये।

वहाँ पर श्री नारायण दास जी ने अपने बटुए से निकालकर प्रसादी के रूप में थोड़ी सी राख (विभूति) दी। उससे तुरन्त ही चमत्कार हुआ। वह व्यक्ति उसी क्षण होश में आ गया और महाराज जी के चरण पकड़कर क्षमा माँगने लगा।

महाराज जी ने यह देखकर उसे सम्बोधित करते हुए कहा— "जिसकी तुम निन्दा करते थे, उन्हीं की कृपा से आज तुम्हारे प्राण बचे हैं। भविष्य में ऐसी भूल कभी न करना।" यह बात सुनकर वह फूट-फूट कर रो पड़ा।

एक दिन नन्दलाल नामक व्यक्ति महाराज जी के पास आया और बोला— "आपसे मैं आज कोई चमत्कार दिखाने का आग्रह करता हूँ।"

"भाई! हम तो साधू-महात्मा हैं। हमें किसी

चमत्कार से क्या लेना-देना है? यदि तुम्हें चमत्कार ही देखने की इच्छा है, तो किसी तांत्रिक विद्या वाले के पास चले जाओ।"

नन्दलाल के शब्दों में तीखापन-सा था। वह रूखे स्वरों में बोला – "जब तुम्हारे पास चमत्कार ही नहीं है, तो और क्या करोगे? क्या तुम्हारे पास सिर्फ ढोंग ही है? तुमने तो केवल गृहस्थियों को बहकाना ही सीख लिया है। जैसा तुम्हारे बारे में सुन रखा था, वैसे तुम वास्तव में नहीं हो। सच ही कहा है – नाम बड़े और दर्शन छोटे। तुम जैसे साधुओं ने इस दुनिया का नाश कर रखा है।"

उसकी इस प्रकार की जहरीली बातों पर महाराज जी ने धैर्यपूर्वक कहा – "तुम्हें यदि इसी तरह बकना है, तो कहीं और जाकर बको। कृपा करके यहाँ से चले जाओ।"

नन्दलाल कुछ बहस करने के बाद चला तो गया, किन्तु उसका आना बन्द नहीं हुआ। वह आता और व्यर्थ की बातें बकता रहता। घण्टों तक चुप होने का नाम ही नहीं लेता था। जब देखो, तब केवल चमत्कार ही चमत्कार की बातें करता। उसकी इस असभ्यता पर महाराज जी बहुत परेशान हो गये और उन्होंने सद्गुरु श्री नारायण दास जी से सारी बात बता दी।

"गुरुदेव! नन्दलाल प्रतिदिन आकर मुझे बहुत परेशान करता है। उसने एक ही बात की रट लगा रखी है कि मुझे चमत्कार दिखाओ। मैं उसे हमेशा टालने की कोशिश करता हूँ, लेकिन वह मानता ही नहीं है। अब यह बताइए कि मुझे क्या करना है?"

यह सुनकर सद्गुरु श्री नारायण दास जी ने उत्तर दिया— "जब वह आए, तो कह देना कि तुम्हारी इच्छा

अब पूरी हो जायेगी। परसों तुम्हें अवश्य ही चमत्कार दिखायी पड़ेगा।"

अगले दिन जब नन्दलाल आया, तो महाराज जी ने उससे कहा— "भाई नन्दलाल! क्या तुम चमत्कार देखोगे या उसकी इच्छा समाप्त हो गयी है?"

"यदि तुम्हारे पास चमत्कार होता, तो तुम बहुत पहले ही दिखा दिए होते। तुम्हारे अन्दर कोई भी शक्ति नहीं है।"

"अधीर मत होओ। परमात्मा की कृपा से कल निश्चित ही तुम्हें चमत्कार के दर्शन होंगे। कल तुम सावधान होकर रहना।"

यह सुनकर नन्दलाल अपने घर चला गया। उसकी दृष्टि में चमत्कार मात्र एक नाटक था। साधु—महात्माओं

के प्रति उसका दृष्टिकोण व्यंग्यात्मक था। अगले दिन नन्दलाल अपने घर में दीवार के सहारे कमर लगाकर बैठा था। अचानक ही दीवार उसके ऊपर गिर पड़ी। उसकी हड्डियाँ और पसलियाँ टूट गयीं।

चारों ओर इस बात का शोर मच गया कि नन्दलाल के ऊपर दीवार गिर पड़ी और वह उसमें दब गया है। लोग दौड़-दौड़कर आये और उसे दीवार से निकाला गया। गाँव में नन्दलाल के मर जाने की अफवाह भी फैल गयी।

नन्दलाल की हालत बहुत ही चिन्ताजनक थी। उसके घर वाले महाराज जी की कुटिया पर भी पहुँच गये और घर चलने के लिये आग्रह करने लगे। महाराज जी ने उनसे साफ-साफ कह दिया कि बिना सद्गुरु महाराज के मैं अन्य किसी के भी घर नहीं जाऊँगा।

यह बात सुनकर नन्दलाल के घर वाले भागे-भागे सद्गुरु श्री नारायण दास जी के घर पहुँचे और गिड़गिड़ाने लगे। दयालु हृदय श्री नारायण दास जी ने उनकी प्रार्थना को स्वीकार किया और नन्दलाल के पास चलने के लिये तैयार हो गये। उनके साथ महाराज जी भी चल पड़े।

वहाँ नन्दलाल की स्थिति बहुत ही गम्भीर थी। ऐसा लगता था जैसे वह अभी इस संसार से चलने की तैयारी में है। नन्दलाल अभी होश में था। वह देखते ही चिल्लाने लगा- "प्रभो! आप कृपा करें। मैंने बहुत बड़ा अपराध किया है। मुझे जल्दी से माफ कर दीजिए। अब मैं इस संसार से जाने वाला हूँ।"

यह सुनकर सद्गुरु महाराज बोले- "तुम मरने की बात क्यों करते हो? तुम्हें इतना निराश नहीं होना चाहिए। यदि तुम चले गये, तो चमत्कार कौन देखेगा?"



उन बेचारे चमत्कारों का क्या होगा, जिन्हें तुम देखना चाहते हो?"

यह कहकर सद्गुरु महाराज वहाँ से चलने के लिये खड़े हो गये, किन्तु नन्दलाल ने उन्हें रुकने के लिये विनम्रतापूर्वक प्रार्थना की।

"महाराज! जब तक मेरी मृत्यु न हो जाये, तब तक आप यहीं ठहरिए। मुझे विश्वास है कि आपकी उपस्थिति में मृत्यु होने पर मुझे अवश्य ही शान्ति मिलेगी।"

"नन्दलाल! तुम्हें तो अभी चमत्कार देखने हैं, इसलिये अभी मरने नहीं दूँगा।" कहते हुए सद्गुरु महाराज ने अपने बटुए से विभूति निकालकर उसे दी। उससे उसके शरीर की पीड़ा तो ठीक हो ही गयी, साथ ही बुद्धि पर भी असर हो गया।

अष्ट प्रहर में उसके अन्दर इतनी सात्विकता आ गयी कि वह दानवीर बनकर सब कुछ लुटाने लगा। वह घड़े में दूध भर-भरकर कुटिया पर भिजवाने लगा। जो भी कोई गरीब व्यक्ति मिल जाता, उसे अन्न-वस्त्र आदि से तृप्त करता। भिन्न-भिन्न मन्दिरों में भोजन का सामान भिजवाने लगा तथा महात्माओं को भोजन करवाने लगा।

इस प्रकार एक माह तक वह पुण्य कार्य करता रहा। उसकी दानवीरता से पूरा घर कंगाल बन गया। परिवार वालों के समझाने का उस पर कोई भी असर नहीं पड़ा।

अन्ततोगत्वा नन्दलाल के घरवालों ने महाराज जी के पास जाकर प्रार्थना की- "हे महाराज! अब आप कृपा करके नन्दलाल को क्षमा कर दीजिए। आपने उसे दान का ऐसा रोग लगा दिया है कि घर में अन्न, वस्त्र, बर्तन आदि कुछ भी नहीं है। सारा घर उजाड़ पड़ा हुआ है।

यह देखकर सोनगिरि के लोग हँसी उड़ा रहे हैं। यदि उसका कोई अपराध भी है, तो उसे अपने मन से निकाल दीजिए।"

ये सारी बातें महाराज जी ने सद्गुरु श्री नारायण दास जी को कह सुनायी। सुनते ही सद्गुरु महाराज मुस्करा पड़े। उन्होंने महाराज जी से कहा कि वे नन्दलाल को बुलवाने की व्यवस्था करें।

नन्दलाल का एक शुभचिन्तक उसे लेकर सद्गुरु महाराज जी के पास आया। उसे देखकर सद्गुरु श्री नारायण दास जी ने कहा— "नन्दलाल! तुम्हारा चित्त प्रसन्न होगा। मैंने तो सुना दान-पुण्य करने में तुमने कमाल कर दिया है। इस पृथ्वी पर रहकर भी तुम वैकुण्ठ जैसा सुख भोग रहे हो। क्या अभी कुछ और चमत्कार देखने की इच्छा है?"

नन्दलाल कुछ नहीं बोला। वह लकड़ी की मूर्ति की तरह चुपचाप सुनता रहा। ऐसा लगता था, जैसे उसका मुख सी दिया गया हो।

उसकी इस दयनीय अवस्था को देखकर करुणा-मूर्ति सद्गुरु श्री नारायण दास जी ने प्रसाद रूप विभूति दी, जिससे तुरन्त ही उसकी अवस्था सामान्य सी हो गयी। उसके पश्चात् नन्दलाल ने महाराज जी के सामने कभी भी बकने की कोशिश नहीं की।

जिस खेत में महाराज जी की झोपड़ी थी, उस खेत के स्वामी किसान से सद्गुरु ने थोड़ी सी जमीन लेकर एक स्थान बनवा दिया था। यद्यपि वह छोटा सा ही था, किन्तु ध्यान-साधना के लिये पर्याप्त था।

सद्गुरु की कृपा से वहाँ किसी भी वस्तु की कमी

नहीं रही। बना बनाया भोजन हमेशा ही उचित समय पर उपलब्ध रहता था। महाराज जी हमेशा ही अपने भजन के आनन्द में मस्त रहा करते।

एक दिन उस खेत का स्वामी किसान महाराज जी के पास आया और प्रणाम करने के पश्चात् बोला—  
"महाराज जी! आप कैसे हैं? आपको साधना में किसी प्रकार की कोई परेशानी तो नहीं है?"

"सद्गुरु महाराज की कृपा से सब ठीक है।"

महाराज जी को प्रसन्न देखकर किसान बोला—  
"महाराज जी! मैं आपको एक विशेष बात बताना चाहता हूँ। एक दिन मैं बहुत बड़े चक्कर में फँस गया था। आपसे छिपाना उचित नहीं है, इसलिये मैं स्पष्ट रूप से कह रहा हूँ कि यहाँ पर कोई प्रेत रहता है।

"एक बार मैं आधी रात को इस खेत में आया। उस समय इसमें मक्के की फसल बोई गयी थी। मुझे ऐसी आवाज आयी, जैसे कोई ककड़ियाँ तोड़ रहा हो। मैं बहुत आश्चर्य में पड़ गया कि इस खेत के चारों ओर नागफनी की बाड़ है। उसे उल्लङ्घन कर कोई पशु नहीं आ सकता। निश्चित रूप से यह कोई मनुष्य है। मैंने लाठी लेकर सारे खेत को खोज डाला, लेकिन कहीं भी कुछ नहीं मिला। मुझे इस बात से बहुत आश्चर्य हुआ।

"जब इस बारे में सोचते हुए बाहर निकला, तो पुनः उसी तरह की आवाज आयी। अब मैं पुनः उसको खोजने के लिये खेत में घुस गया। मैंने सारे खेत की खाक छान डाली, लेकिन परिणाम शून्य ही रहा।

"अब मैं पुनः बाहर आकर सोचने लगा कि यह कोई साधारण चोर नहीं है। जब मैं खेत के बाहर आता हूँ तो

ऐसा प्रतीत होता है कि वह खेत के अन्दर ही है, किन्तु जब मैं उसे खोजने जाता हूँ तो उसका जरा भी पता नहीं चल पाता।

"अचानक ही पुनः ककड़ी तोड़ने और भागने की आवाज सुनायी पड़ी। मैं लाठी लेकर खेत में घुस गया। मैंने इस बार दृढ़ निश्चय कर रखा था कि चाहे कुछ भी क्यों न हो जाये, मैं चोर को अवश्य ही पकड़ूँगा।

"मैंने भाग-भागकर उसे खेत में खोजा, लेकिन कहीं भी उसे नहीं पा सका। अब मेरे अन्दर भय समा गया। धीरे-धीरे मैं इतना भयभीत हो गया कि बेहोश होकर गिर गया। मुझे अब भी पता नहीं है कि यहाँ से उठाकर कौन मुझे ले गया? घर जाने के बाद मैं बीमार पड़ा और बड़ी मुश्किल से मेरे प्राण बच पाये।"

उस दिन महाराज जी ने उसकी सारी बातें सुन लीं। उन्होंने स्पष्ट रूप से कुछ भी नहीं कहा, लेकिन एक दिन जब वे ध्यान में बैठे हुए थे.....। अचानक ही उन्हें "हूँ हूँ" की भयंकर आवाज सुनायी पड़ी। ध्यान भंग हो जाने से महाराज जी कुछ खिन्न से हो गये। जिधर से आवाज आयी थी, उधर की ओर जब दृष्टि डाली तो कुछ भी दिखायी नहीं पड़ा।

अब महाराज जी ने अपने हाथ में लालटेन लेकर उसका पीछा करना प्रारम्भ किया। आगे-आगे "हूँ हूँ" की आवाज करते हुए कोई व्यक्ति प्रतीत होता था, किन्तु आँखों से जरा भी दिखायी नहीं पड़ता था।

महाराज जी समझ गये कि निश्चित रूप से यह कोई प्रेत है। महाराज जी उसका पीछा करते गये और खेत से बाहर निकाल दिया। जब वह खेत के बाहर चला गया,



तो महाराज जी ने जोरदार शब्दों में कहा – "खबरदार!  
अब कभी फिर नहीं आना।"

इसके पश्चात् महाराज जी अपनी कुटिया पर वापस  
आ गये। जब तक वे उस स्थान पर रहे, प्रेत को दोबारा  
आने की हिम्मत नहीं हुई।



(१२)

संसार परिवर्तनशील है। सुख-दुःख, लाभ-हानि, मान-अपमान, जय-पराजय का चक्र चलता रहता है। विवेकशील प्राणी इस परिवर्तनशीलता से कभी भी विचलित नहीं होते।

महाराज जी के गुरुभाई की पत्नी बीमार पड़ गयी थी। घर के लोगों ने श्री नारायण दास जी से प्रार्थना की थी कि वे या तो इसका इलाज करवायें या अपनी शक्ति से ठीक कर दें। महाराज जी ने भी अपने सद्गुरु से उसका दुःख दूर करने की प्रार्थना की।

सद्गुरु महाराज का स्पष्ट उत्तर था – "उसकी चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं है। उसकी बीमारी बिल्कुल ठीक हो जायेगी।"

यह सुनकर महाराज जी चुप हो गये। वे अपने सद्गुरु के वचनों को ब्रह्मवाक्य माना करते थे। उनके मन में यह अटूट विश्वास था कि सद्गुरु महाराज ने जो कह दिया, वह अवश्य होगा।

उधर गुरुभाई की पत्नी की स्थिति बिगड़ती जा रही थी। सभी लोग आकर महाराज जी से सिफारिश करते थे कि आप अपने सद्गुरु महाराज से ठीक करने के लिये क्यों नहीं कहते? जब उनके परिवार का ही सदस्य रोगी है, तो उसके ऊपर जरा भी ध्यान नहीं दे रहे हैं और दूसरों को ठीक करते रहते हैं।

यह सुनकर महाराज जी ने अपने सद्गुरु महाराज से यह प्रार्थना की कि वे अवश्य उसको ठीक कर दें। महाराज जी के बार-बार आग्रह करने पर श्री नारायण दास जी घर चलने के लिये मजबूर हो गये।

महाराज जी अपने सद्गुरु श्री नारायण दास जी के साथ घर पहुँचे। उसकी हालत देखकर सद्गुरु बोल उठे— "इसे तो कोई भी रोग नहीं है। यदि यह मर भी जाती तो क्या होता? उसे जीवित कर लिया जाता। यह पूर्णरूप से ठीक है। किसी भी प्रकार की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है।"

यह कहकर सद्गुरु महाराज जैसे ही अपने स्थान पर पहुँचे, वैसे ही थोड़ी देर के पश्चात् यह सूचना आयी कि उसका देहान्त हो गया है।

महाराज जी भी यह बात सुनकर अपने सद्गुरु महाराज के पास पहुँच गये। श्री नारायण दास जी महाराज भी यह सुनकर महाराज जी के साथ घर की ओर प्रस्थान कर दिए।

सद्गुरु महाराज ने जब अपनी पुत्रवधु का हाथ देखा, तो उसे मरा हुआ पाया। वे तुरन्त बोले— "मैंने यह वचन दे दिया था कि यदि यह मर जायेगी, तो मैं जिन्दा कर दूँगा। यह जीवित तो हो जायेगी, लेकिन श्मशान में।"

आप लोग जल्दी से जल्दी इसकी अर्थी तैयार कर दीजिए।

परिवार के लोग रोते-पीटते श्मशान की ओर चल पड़े। साथ में गाँव के भी बहुत से लोग थे। सबको इस बात पर बहुत आश्चर्य था कि कैसे मुर्दा जीवित होगा ? स्वयं इस बारे में महाराज जी भी पूर्ण रूप से निश्चिन्त नहीं थे।

यह बात उनके मन में जरूर थी कि सद्गुरु महाराज अपने मुख से जो कुछ भी कहते हैं, वह तो अवश्य ही

पूर्ण होता है। यदि वे चाहेंगे तो निश्चित रूप से जीवित कर देंगे।

शमशान पहुँचने पर उपस्थित जन समूह ने प्रार्थना की— "महाराज जी! आप इसे जीवित कर दीजिए।"

"हाँ-हाँ, क्यों नहीं? पहले इसे चिता पर रखो, तो यह जीवित क्यों नहीं होगी?"

लोगों ने सद्गुरु महाराज के आदेश का पालन किया। थोड़ी ही देर में चिता धू-धू करके जल उठी। सभी लोग फटी आँखों से देखते ही रहे। इसी सोच में थे कि सद्गुरु महाराज किस तरह मुर्दे को जीवित करते हैं। वे उनका मुख देखते रहे कि कब जीवित करते हैं।

शव के जल जाने पर सद्गुरु महाराज घर की ओर चल पड़े। रास्ते में वे कहते जा रहे थे— "चिरंजीवी रहो,

चिरंजीवी रहो।"

महापुरुषों की लीला विचित्र होती है। उनके हृदय में संसार के सभी प्राणी समान होते हैं। पारिवारिक व्यक्तियों से उन्हें मात्र उतना ही स्नेह होता है, जितना बाहरी लोगों से होता है। वे संसार में रहते हुए भी संसार से वैसे ही निर्लेप रहते हैं, जैसे जल में रहने वाला कमल।

सभी लोग दुःखी मन से अपने-अपने घर गये। महाराज जी भी अपनी कुटिया में गये। वे अब सद्गुरु महाराज से बहुत भयभीत हो गये थे।

सद्गुरु श्री नारायण दास जी ने यह जान लिया कि वे बहुत भयभीत हैं, इसलिये उनको बुलाकर कुछ दिनों के लिये बाहर चले जाने का आदेश दिया। महाराज जी ने तुरन्त आदेश का पालन किया और सोनगीर से बाहर

एक छोटी सी टेकरी में रहने लगे। इसकी आकृति एक गुफा के समान थी।

महाराज जी उसी गुफा में ध्यान-साधना करने लगे। पास से ही सड़क गुजरती थी। उस पर दौड़ने वाली गाड़ियों की रोशनी महाराज जी की साधना में बहुत बाधा डालती थी। महाराज जी ने गाड़ी वालों को बहुत मना किया- "भाई! आप जब इधर से गुजरो, तो अपनी बत्ती बुझा लिया करो।"

लेकिन उनकी कौन सुनने वाला था। सभी का यही कहना था- "बाबा जी! यह सड़क आपकी तो है नहीं। इस पर तो ऐसे ही चलेगा।" इस प्रकार की बातें कहकर सभी ने उनके निवेदन को अनसुना कर दिया।

एक बार एक अंग्रेज अपनी कार से मस्ती में आ रहा



था। जैसे ही कार की तेज रोशनी महाराज जी की आँखों पर पड़ी, उनके मुख से शब्द निकले— "गुरु महाराज।"

एक अजीब सा चमत्कार हुआ। उस अंग्रेज की कार की बत्ती तो बुझ ही गयी, उसकी मशीन भी बिगड़ गयी। कार को मजबूरीवश रुकना पड़ा। पीछे से जो भी गाड़ियाँ आ रही थीं, उनका भी यही हाल हुआ। परिणाम यह हुआ कि वहाँ दर्जनों गाड़ियाँ रुक गयीं।

सभी को इस बात पर बहुत आश्चर्य हुआ कि आखिरकार सभी गाड़ियाँ क्यों रुक गयीं? सबकी गाड़ियों का रोग एक ही क्यों है?

उन रुकी हुई गाड़ियों के चालकों में एक ऐसा भी था, जो उस मार्ग से प्रतिदिन आया-जाया करता था। उसने बताया कि यहाँ पर एक महात्मा जी रहते हैं।

उन्होंने हमें कई बार कहा था कि आप लोग जब इधर से गुजरते हैं, तो अपनी गाड़ियों की बत्तियाँ बुझा लिया करें। हम लोगों ने हमेशा ही उनकी बात को अनसुना कर दिया। लगता है, यह सब लीला उन्हीं ने की है।

अंग्रेज की गाड़ी को ठीक करने में काफी लोग लगे हुए थे। जब यह बात उन तक पहुँची, तो और भी कई लोगों ने यह बात कही कि महात्मा जी ने तो हमको भी रोका था, किन्तु हमने भी उनकी बात पर ध्यान नहीं दिया। यह तो निश्चित है कि यह सब उनका ही किया-कराया है।

अब अंग्रेज सहित सभी लोग एकत्रित होकर आये और बोले- "महाराज जी! हम से जो भूल हुई है, उसे क्षमा करने की कृपा करें। हम यहाँ पर बोर्ड लगवा देते हैं कि यहाँ से जो भी गुजरेगा, वह अपनी गाड़ी की बत्ती

बुझाकर ही जायेगा तथा श्रद्धापूर्वक सिर भी झुकाकर जायेगा।"

उनकी प्रार्थना सुनकर महाराज जी ने सबको जाने का इशारा कर दिया। सभी प्रणाम कर भागते बने। उस दिन के बाद वहाँ बोर्ड लग गया। जो भी गाड़ी गुजरती, उसकी बत्ती वहाँ पर बुझी हुई रहती।

कुछ दिनों के पश्चात् महाराज जी वहाँ से चले गये, किन्तु अब उस चट्टान की भी पूजा होने लगी। वहाँ से गुजरने वाले सभी उस चट्टान को प्रणाम करके ही जाते। गाड़ी वालों में तो इतना भय था कि वे महाराज जी की अनुपस्थिति में भी अपनी गाड़ी की बत्ती बुझाकर जाते।

कुछ दिन उस गुफा में रहने के बाद महाराज जी वहाँ से भी चल दिये। वे सतपुड़ा की पहाड़ियों से गुजरते

हुए ताप्ती नदी के किनारे महावड़ नामक शहर में पहुँचे। यह नगर ताप्ती और पाँजरा नदी के संगम पर स्थित है।

वहाँ वे कपिलेश्वर नामक मन्दिर में ठहरे। मन्दिर में पृथ्वी ही उनकी शय्या थी। बर्तन के नाम पर मात्र एक पिचकी हुई लुटिया थी। उनके मन में जो भी आता, बोलते रहते। उनकी दाढ़ी तथा मूँछ के बाल इतने बढ़ गये थे कि लगता था कि सिर और दाढ़ी के बालों में कोई अन्तर ही नहीं है।

महाराज जी के हृदय-मन्दिर में सद्गुरु श्री नारायण दास जी का वास था। यद्यपि वे हमेशा ही अटपटी बातें बोलते रहते जो पूर्णतया सत्य होतीं, उनके स्वरूप को न पहचान सकने के कारण ही अधिकतर लोग उन्हें पागल समझते थे। महाराज जी का शरीर मात्र कठपुतली की तरह कार्य कर रहा था। कहने मात्र के लिये ही उनका

शरीर था, किन्तु अन्दर से सब कुछ सद्गुरु महाराज श्री नारायण दास जी ही कर रहे थे।

महाराज जी ने कुछ दिनों तक दोनों नदियों के संगम में निवास किया। वहाँ उनके पास शहर के लोग सत्संग के लिये आने लगे।

महाराज जी आध्यात्मिक तत्वज्ञान की इतनी गहराइयों में उतर चुके थे कि उनकी कही हुई बातें लोगों को अटपटी लगा करतीं तथा उनकी समझ में ही नहीं आता कि ये क्या कह रहे हैं। वहाँ के निवासियों के मन में महाराज जी के लिये आदर की भावना बढ़ने लगी।

उन दिनों वहाँ चतुर्दशी का मेला लगा करता था। मेले में आस-पास के काफी लोग आया करते थे। जब मेले की तैयारियाँ जोर-शोर से चल रही थी, तो शहर

का एक प्रतिष्ठित व्यक्ति महाराज जी से मिलने के लिये आया, जो वहाँ "पटेल जी" के सम्बोधन से प्रसिद्ध था।

महाराज जी ने अपनी दिव्य दृष्टि से पहले ही देख लिया था कि भविष्य में क्या अनिष्ट होने वाला है। उन्होंने वहाँ होने वाले जन-विनाश को टालने के लिये पटेल से कहा— "पटेल जी! आपको योग्य व्यक्ति समझकर आपसे कुछ कहना चाहता हूँ। मैं सभी लोगों के हित के लिये ही कह रहा हूँ। मेरी बात पर विश्वास कीजिए।"

"आपका आदेश शिरोधार्य है। मेरे लिये जो भी सेवा हो, बताने का कष्ट करें।"

"आप इस बार यहाँ मेला न लगने दीजिए। यह मेला पाँजरा के अतिरिक्त अन्य कहीं भी भले ही लगवा

दीजिए।"

"महाराज जी! मैं क्या करूँ? इस मेले के लिये यह स्थान बहुत पहले से निश्चित है। सबकी सहमति के बिना अकेले मेरे कहने से यह मेला न तो रुक पायेगा और न इसका स्थान ही परिवर्तित हो सकेगा।"

अब तो मजबूर होकर महाराज जी को मौन रह जाना पड़ा। दो दिन के पश्चात् वहाँ थाने के सिपाही अपना डेरा लगाने के लिये आ गये। उन्होंने महाराज जी को कहीं और चले जाने के लिये कहा।

महाराज जी क्या करते? उन्होंने अपना आसन अलग लगा लिया, किन्तु विनाश की काली घटाओं से सबको बचाने के लिये वे थाने वालों के डेरे में गये।

उस समय डेरे में केवल दरोगा ही था। उसने

महाराज जी को देखते ही कहा – "सांई साहब! आपकी क्या इच्छा है? यहाँ आकर बैठ जाइए। क्या भोजन करेंगे?"

"नहीं! मुझे भोजन या अन्य किसी भी वस्तु की आवश्यकता नहीं है।"

"मेरा विशेष आग्रह है कि आप भोजन कीजिए।"

"मुझे भोजन की जरा भी इच्छा नहीं है।"

"सांई जी! आप इतना तो बताइए कि आपके यहाँ पधारने का क्या कारण है? आपको क्या कष्ट है? कुछ तो बताइए।"

"इस मेले में सबसे अधिक जिम्मेदार व्यक्ति आप ही हैं। आपसे मैं कुछ विशेष बात कहना चाहता हूँ।"

"आपकी जो भी इच्छा हो, वह बताइए।"



"आप यहाँ मेला न करवाइए।"

"यह काम मेरे लिये सम्भव नहीं है।"

"यदि आप चाहें, तो यह मेला कहीं और जा सकता है। अभी तो केवल दस-बीस दुकानें ही लगी हैं।"

"आप इसकी चिन्ता न कीजिए। मेले का स्थान परिवर्तन करना सम्भव नहीं है।"

इस प्रकार का रूखा सा उत्तर सुनकर महाराज जी अपने आसन पर लौट आए।

नदी के दूसरे किनारे पर भी कुछ प्रबन्धक थे। महाराज जी ने उनके पास जाकर भी अपना निवेदन कह सुनाया, लेकिन उनकी कौन सुनने वाला था? उन्होंने भी कोरा सा उत्तर देकर उन्हें वापस लौटने के लिये मजबूर कर दिया।

अब संगम की रेत में मेला लगना शुरू हो गया। गाड़ियों में भर-भरकर माल आने लगा। देखते ही देखते बहुत सी दुकानें सज गयीं। अपने-अपने डेरे लगाकर हजारों लोग रेती में ठहर गये।

पाँजरा नदी का पाट बहुत चौड़ा था। नदी के दोनों ओर ऊँची-ऊँची कँगारें खड़ी थीं। नदी में पानी नाम-मात्र को था। उस इलाके में वर्षा बहुत कम होती थी। नदी के सूखे होने का यही कारण था।

चतुर्दशी के दिन मेले में बहुत अधिक भीड़ थी। आधी रात्रि के पश्चात् शंख की आवाज जैसी कोई ध्वनि सुनायी पड़ी। किसी ने इस पर ध्यान नहीं दिया। इस घटना के एक घण्टे बाद तो चारों ओर कोहराम ही मच गया।

नदी का जल अचानक ही उफान पर आ गया। ऐसे लगा जैसे पृथ्वी फट गयी हो और उसका जल आ गया हो, या ज्वारभाटे ने अपना कोप दिखा दिया हो। किसी को भी यह समझने का अवसर नहीं मिल सका कि इतनी जलराशि कहाँ से आ गई। नदी में चारों ओर शव ही शव दिखायी पड़ने लगे। नदी के अन्दर पशुओं और इन्सानों की लाशें तैर रही थीं। न जाने कितना सामान बह गया?

उस समय वर्षा की कोई भी सम्भावना नहीं थी। सबके लिये यह गहरा रहस्य बन गया कि इतना प्रलयकारी जल कहाँ से आ गया? प्रकृति के कोप ने मात्र एक मिनट में हजारों लोगों की जान ले ली।

जब लोगों की चीख-पुकार महाराज जी के कानों में पहुँची, तो वे सीधे दरोगा के पास पहुँचे और उसे कड़े

शब्दों में उन्होंने फटकार लगायी – "तुम्हें किस बात का अहंकार था, जो मेरी राय को तुकरा दिया? क्या इसी को व्यवस्था कहते हैं?"

दरोगा का चेहरा पीला पड़ा हुआ था। वह इस महाविनाश को देखकर थर-थर काँप रहा था। महाराज जी के इन शब्दों को सुनकर हाथ जोड़ते हुए बोला – "मैं प्रकृति के कोप के बारे में क्या कह सकता हूँ? आपकी जो भी इच्छा हो, कह लीजिए।"

"अब तो तुम निर्दोष बनोगे ही। मैंने तुम्हें सावधान किया था, लेकिन तुमने मेरी बातों को पूर्णतया अनसुना कर दिया। जैसे इतने लोग बह गये हैं, वैसे यदि तुम भी बह गये होते, तो तुम्हें दूसरों के कष्टों का अहसास होता। अब सिर नीचा किए हुए क्यों खड़े हो? तुमने हजारों लोगों को मरवा दिया और लाखों की सम्पत्ति नष्ट करवा

दी। इस काण्ड के अपराधी तुम हो।"

दरोगा तो ऐसा हो गया जैसे उसे साँप सूँघ गया हो। वह एक शब्द भी नहीं बोल सका। महाराज जी ने उस स्थान को तत्काल ही छोड़ दिया और गहन जंगलों में प्रवेश कर गये। वे चार-पाँच दिन तक पहाड़ों और जंगलों में घूमते रहे, अन्त में एक गाँव में पहुँचे।

प्रियतम परब्रह्म का प्रेम पागल की तरह कर देता है। उसे अपने शरीर की जरा भी सुध नहीं रहती। माया से प्रेम करने वाले भी स्वयं को भूले रहते हैं, किन्तु वे शान्ति और आनन्द से करोड़ों कोस दूर रहते हैं। जबकि परब्रह्म से प्रेम करने वाले शान्ति और आनन्द के उस सागर में स्नान करते हैं, जिसकी एक बूँद भी यदि सामान्य मनुष्य को मिल जाये तो उसका जीवन धन्य-धन्य हो जायेगा।

उस गाँव के बाहर एक वृक्ष था। उसके नीचे महाराज जी ने अपना आसन लगा लिया। उस बस्ती के मकान लगभग पन्द्रह फुट ऊँची काँटेदार बाड़ों से घिरे हुए थे। कँटीले पेड़-पौधों से घर, दरवाजे, और दीवारें ढंकी पड़ी थीं। ऐसा प्रतीत ही नहीं होता था कि कोई मकान है।

महाराज जी को एक पेड़ के नीचे बैठे हुए देखकर एक ग्रामवासी आया और बोला— "बाबा जी! आप यहाँ मत ठहरिये। यहाँ रात को शेर आता है। आप कृपा करके हमारे घर में विश्राम कीजिए।"

"भाई! तुम जाओ। मेरी चिन्ता मत करो। उस बेचारे शेर को मुझसे क्या लेना है?"

इस प्रकार का उत्तर पाकर वह व्यक्ति चला गया।

शाम को वह व्यक्ति पुनः आया और भोजन के लिये आग्रह करने लगा। महाराज जी ने भोजन के लिये मना कर दिया, क्योंकि वे रात्रि को भोजन नहीं करते थे।

मना करने पर भी वह व्यक्ति एक पाव दूध ले आया। उसके आग्रहवश महाराज जी को दूध पीना ही पड़ा। दूध पीने के पश्चात् महाराज जी ने लकड़ियों की धूनी जलायी और ध्यानस्थ होकर बैठ गये।

आधी रात्रि के पश्चात् चारों ओर खलबली मच गयी। गायें जोर-जोर से रम्भाने लगीं। दूध पिलाने वाले उस व्यक्ति ने बाड़े का द्वार खोला और आवाज दी – "बाबा जी! शेर आ चुका है। आप अन्दर आ जाइए।"

महाराज जी ने स्पष्ट रूप से उत्तर दे दिया – "भाई! तुम चिन्ता न करो। मैं यहीं पर रहूँगा।"

यह सुनकर उस व्यक्ति ने बाड़े का दरवाजा बन्द कर लिया।

क्षण भर के बाद ही शेर आ पहुँचा। वह धूने से अलग हटकर खड़ा हो गया। कुछ देर तक महाराज जी की ओर देखता रहा। फिर वापस लौट गया। लगभग दो घण्टे बाद वह पुनः लौट आया। उसके आते ही गायों में फिर खलबली मच गयी। वह महाराज जी के पास पुनः आकर गौर से उन्हें देखता रहा। जब तक सिंह वापस नहीं लौटा, तब तक बाड़े में शेर होता ही रहा।

इस प्रकार शेर तीन बार आया और वापस लौटा। उसे कोई शिकार नहीं मिल सका। फलतः निराश होकर वह वापस लौट गया। पूर्व दिशा में पौ फटने लगी थी। रात को दूध पिलाने वाला व्यक्ति महाराज जी के पास आया और सादर प्रणाम करने के पश्चात् बोला—



"महाराज जी! आपकी कृपा से मेरी गाय आज बच गयी। यह शेर प्रतिदिन यहाँ आता है और किसी न किसी गाय को उठाकर ले जाता है। आपकी कृपा-दृष्टि से ही वह बाड़े में आने का साहस नहीं कर सका। आपसे मेरी करबद्ध प्रार्थना है कि आप यहाँ स्थायी रूप से ठहरें। हम आपकी पूरी तरह से सेवा करेंगे।"

महाराज जी ने उत्तर दिया— "मैं किसी का नौकर या पहरेदार तो हूँ नहीं। मैं अपनी इच्छानुसार विचरण करता हूँ। मेरी स्वच्छन्दता में कोई बाधा नहीं बन सकता।"

यह कहकर महाराज जी ने उसी दिन अपना छोटा सा सामान उठाया और चल पड़े। जँगल-जँगल चलते हुए कई दिन बीत गये। अन्त में एक गाँव आया। जैसे ही गाँव के पास एक स्थान पर वे ठहरे, रोने की आवाज

आयी।

महाराज जी ने अपने पास खड़े एक व्यक्ति से पूछा— "भाई! यह किसके रोने की आवाज है?"

"बाबाजी! एक विधवा स्त्री है। उसके जवान बेटे को सर्प ने काट लिया है। उसे देखने के लिये सभी लोग जा रहे हैं। आपसे प्रार्थना है कि आप उसके ऊपर कृपा कीजिए।"

"इस संसार में प्रतिदिन हजारों व्यक्ति जन्म लेते हैं और मरते हैं। मेरा किसी से क्या सम्बन्ध? वहाँ जाने से कोई लाभ नहीं है। तुम मुझे यहीं पर रहने दो।"

उस व्यक्ति के ऊपर महाराज जी के कथनों का कोई भी असर नहीं पड़ा। उसने इतना अधिक आग्रह किया कि विवश होकर महाराज जी को जाना ही पड़ा।

जैसे ही महाराज जी उसके घर पहुँचे, उस लड़के की माँ उनके चरणों से लिपट गयी और फूट-फूट कर रोने लगी। महाराज जी ने उसे बहुत झिड़का, लेकिन उसने उनके चरणों को नहीं छोड़ा। उसने बिलखते हुए कहा— "मेरे लिए साक्षात् भगवान आप ही हैं। आप उसे जीवनदान दे सकते हैं। इसके सिवाय मेरा कोई भी दूसरा सहारा नहीं है।"

"तुम मेरा पैर छोड़ो। भला इसमें मैं क्या कर सकता हूँ? यह तो काल की लीला है।"

"मैं तो यही मानती हूँ कि आज मेरे घर साक्षात् भगवान आए हुए हैं। या तो आप इसे जीवित कीजिए या इसके साथ मेरी भी अर्थी भेजिए।"

वह स्त्री किसी भी स्थिति में महाराज जी के चरणों

को छोड़ने के लिए तैयार नहीं थी। अचानक ही महाराज जी के मुख से निकल पड़ा— "सद्गुरु महाराज कृपा करेंगे। सूर्योदय होने तक इसकी अर्थी नहीं उठाना।"

इस प्रकार का वचन लेकर ही उस स्त्री ने महाराज जी के चरणों को छोड़ा। महाराज जी ने अब वहाँ एक पल भी ठहरना उचित नहीं समझा। वे तुरन्त ही वहाँ से चल दिए और सारी रात चलते-चलते प्रातःकाल ही रुके।

लोग उस मरे हुए बालक की रात-भर देखभाल करते रहे। चार बजे उनका धैर्य जवाब दे गया। वे उसकी अन्तिम क्रिया की तैयारी करने लगे, किन्तु उस स्त्री ने बच्चे की अर्थी को छूने भी नहीं दिया। वह दृढ़ शब्दों में बोली— "जब तक सूर्योदय नहीं होगा, तब तक मैं इसे किसी भी कीमत पर छूने नहीं दूँगी।"

सभी लोग बोल पड़े- "लगता है, तुम पागल हो गयी हो। क्या मरे हुए भी जीवित हुआ करते हैं? हमें इसे ले जाने दो। यदि इससे दुर्गन्ध आने लगी, तो इसे कोई ले जाने के लिये भी तैयार नहीं होगा।"

"तुम्हें जाना हो, चले जाओ। मुझे उस महात्मा पर अटूट विश्वास है। मेरा बच्चा ठीक हो जायेगा। यदि न भी हुआ, तो क्या? मैं सारा कार्य स्वयं कर लूँगी। तुम्हारे आने की कोई भी आवश्यकता नहीं है।"

"हम लोग भी देख लेते हैं कि यह कैसे जीवित होता है।" यह कहते हुए सभी लोग चले गये। लगभग दो घण्टों के पीछे जैसे ही पूर्व दिशा में सूर्योदय हुआ, वैसे ही उस बालक का जीवन-सूर्य उदित हो गया। उसने अपनी आँखें खोलकर पानी माँगा।

यह बात पूरे गाँव में आग की तरह फैल गयी। मरकर भी जीवित हो जाने वाले उस बालक को देखने के लिये सारा गाँव उमड़ पड़ा। महाराज जी की चप्पे-चप्पे पर खोज होने लगी, लेकिन किसी को भी उनके नाम-निशान का पता न चल सका।

उधर, महाराज जी जँगल-जँगल घूमते हुए "शीरपुर" नामक एक बड़े से गाँव में पहुँचे। बस्ती के अन्दर जाना और किसी से कुछ भी माँगना उनके स्वभाव में नहीं था। जब से उनके दिल में सद्गुरु महाराज की बैठक हो गयी थी, तब से वे आनन्द में मग्न रहने लगे थे। बड़े से बड़े महाराजा से भी बात करने में उन्हें थोड़ी भी झिझक नहीं होती थी। महाराज जी को हमेशा ही यह आभास होता था जैसे कोई उनके साथ पल-पल रहता है।

शीरपुर ग्राम एक छोटे से नगर की तरह था। यह घने जंगलों के बीच में बसा हुआ था। शीरपुर में वन विभाग के अधिकारियों का निवास स्थान भी बना हुआ था। वहाँ का मुख्य अधिकारी एक मुसलमान था। महाराज जी तो अपने प्रियतम परमात्मा के प्रेम में पागल थे। बिना किसी से पूछे उन्होंने कोठी का दरवाजा खोला और अन्दर प्रविष्ट हो गये। उनके इस कार्य पर उस अधिकारी को बहुत आश्चर्य हुआ। उसने पूछा – "आप अन्दर कैसे आ गये।"

"यूँ ही, आने की इच्छा थी, आ गये।"

वह मुसलमान समझ गया कि यह कोई फकीर हैं, इसलिए चुप रहा। कुछ ही पल में उसने आसन मँगवाया और महाराज जी को आदरपूर्वक बैठाया। पुनः उसने आदरपूर्वक पूछा – "क्या आप कुछ भोजन करेंगे?"

"नहीं, मुझे कुछ भी नहीं खाना है। सच तो यह है कि मैं तुम्हें ही खिलाना चाहता हूँ। जो रूहानी मस्ती मेरे पास है, वह तुम्हें भी चखाना चाहता हूँ।"

यह कहकर महाराज जी ने कुरआन पक्ष के विभिन्न विषयों पर चर्चा प्रारम्भ कर दी। उस मुसलमान अधिकारी के साथ उसके मित्र भी थे। एक हिन्दू महात्मा के मुख से कुरान के गूढ़ विषयों की चर्चा सुनकर वह मुसलमान रीझ उठा।

अपने सगे-सम्बन्धियों से वह बातें करने लगा कि निश्चित रूप से इनके पास खुदाई इल्म है। इन्हें खुदाई इश्क का रोग लग गया है, जिसके कारण ये चारों ओर मस्ती में घूमते-फिरते हैं।

सद्गुरु महाराज श्री नारायण दास जी ने अपनी दिव्य



दृष्टि से महाराज जी के सारे क्रिया-कलापों को जान लिया था। महाराज जी को अपने पास बुलाने के लिये उन्होंने अपने पुत्र को भेज दिया।

महाराज जी ने अपने गुरुभाई को देखते ही गले लगा लिया और आदरपूर्वक बैठाया। गुरुभाई ने बताया कि आपको सद्गुरु महाराज ने याद किया है।

यह समाचार पाते ही महाराज जी चल पड़े। तीन-चार दिन चलकर वे सद्गुरु महाराज के चरणों में पहुँचे। वहाँ उन्होंने सद्गुरु को साष्टांग प्रणाम करते हुए बार-बार कदम चूमे।

उस दिन सद्गुरु महाराज के मुख की आकृति बहुत भयभीत करने वाली थी। इसके पहले भी महाराज जी भयभीत होने के कारण ही सोनगीर से चले गये थे।

अचानक ही सद्गुरु महाराज का आदेश सुनायी पड़ा— "इधर सामने आकर बैठो।"

महाराज जी अपना मुख नीचे करके सामने बैठ गये। सद्गुरु श्री नारायण दास जी ने पुनः कहा— "इतना बड़ा हो गया है कि मुर्दों को भी जीवित करने का दुःसाहस करने लगा है।"

यह सुनते ही महाराज जी के मुख से एक चीख सी निकल गयी। वे चुपचाप बैठे हुए सोचते रहे कि मैं किस प्रकार अपने को निर्दोष सिद्ध करूँ?

उन्हें फिर से यह आवाज सुनायी पड़ी— "जिस व्यक्ति को तुमने मरने से रोक दिया है, बताओ उसकी जगह कौन जायेगा?"

"मैं जाऊँगा। मैंने जो कुछ भी अपराध किया है,

उसका दण्ड मैं स्वयं भुगतूँगा।"

"ठीक है। इधर देखो! इसी क्षण शरीर छोड़ने के लिये तैयार हो जाओ।"

महाराज जी ने एक स्थान को स्वच्छ कर उसे लीपा तथा उस पर कुशा बिछा दी। तत्पश्चात् सद्गुरु के चरणों में प्रणाम कर मरने के लिये तैयार हो गये और आसन पर जाकर लेट गये।

सद्गुरु श्री नारायण दास जी महाराज के मुख से ये शब्द निकले— "यह कफन ओढ़ लो।"

इसके साथ ही उनके शरीर पर चादर ओढ़ा दी गयी।

महाराज जी अपने सद्गुरु का ध्यान लगाते हुए लेट गये। उनके सिर की ओर सद्गुरु श्री नारायण दास जी

विराजमान थे। थोड़ी ही देर में महाराज जी की चेतना लुप्त सी हो गयी। जरा भी बाह्य ज्ञान न रहा। उन्हें पता ही नहीं चला कि कितनी देर तक यह अवस्था बनी रही।

जब महाराज जी की आँखें खुलीं, तो सामने प्रियतम अक्षरातीत श्री राज जी विराजमान थे। महाराज जी अपने प्रियतम के चरणों में लोट गये।

महाराज जी को अति मनोहारी आवाज सुनायी पड़ी— "तुम्हारे अन्दर रतन बाई की आत्मा है। तुम्हें इस शरीर से अब जागनी कार्य करना है। तुम सावधान होकर बैठ जाओ। मैं तुम्हारे अन्दर विराजमान होने जा रहा हूँ।"

इन शब्दों को सुनते ही महाराज जी आसनबद्ध होकर बैठ गये। थोड़ी ही देर में उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ जैसे कि उनके अन्दर करोड़ों सूर्यों का प्रकाश अवतरित

हो गया हो।

इस घटना के साथ ही उन्हें भूत-भविष्य की सारी बातों का ज्ञान हो गया। परमधाम से अवतरित होकर ब्रज-रास की लीला के पश्चात् होने वाली जागनी लीला के सभी रहस्य उन्हें प्रत्यक्ष हो गये।

इस आनन्दमयी स्थिति के पश्चात् एक बहुत ही दुःखद घटना घटित हुई। सद्गुरु महाराज श्री नारायण दास जी का वह पुत्र, जो महाराज जी को बुलाने गया था, अचानक ही धाम चला गया (देह त्याग किया)। यह सुनकर महाराज जी के हृदय को बहुत पीड़ा पहुँची।

तीसरे दिन जब उसके पुष्प चुनने की प्रक्रिया पूरी हो गयी, तब सद्गुरु श्री नारायण दास जी ने उन्हें धोती-कुर्ते का जोड़ा, पगड़ी, चादर, और एक कमण्डल दिया।

महाराज जी ने बहुत श्रद्धापूर्वक उन वस्त्रों को धारण किया।

उन वस्त्रों को पहने हुए देखकर सद्गुरु श्री नारायण दास जी बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने महाराज जी को अपने पास बैठाकर तारतम ज्ञान प्रदान किया और कहा— "अब तुम राम रतन हो। धाम धनी तुम्हारे तन से अब जागनी कार्य की सेवा लेंगे। धाम हृदय में विराजमान होकर वही सब कुछ करेंगे।"

आज सद्गुरु महाराज श्री नारायण दास जी बहुत प्रसन्न थे। उनके मुखारविन्द पर मुस्कराहट फैली हुई थी।

महाराज श्री राम रतन दास जी को भी ऐसा प्रतीत हो रहा था, जैसे वे अपने सद्गुरु महाराज के दिल में हों

और सद्गुरु महाराज उनके दिल में। तन दो थे, दिल एक था, शक्ति एक थी। द्वैत में अद्वैत का अखण्ड स्वरूप विराजमान था।

सद्गुरु श्री नारायण दास जी ने अपने श्रीमुख से कहा— "अब तुम्हें जहाँ भी इच्छा हो, वहाँ पर आनन्दपूर्वक जा सकते हो।"

यह सुनते ही परमहंस महाराज श्री राम रतन दास जी सद्गुरु महाराज को प्रणाम कर चल पड़े।



## (१३)

तारतम ज्ञान के प्रकाश और सद्गुरु की कृपा की छाँव तले महाराज श्री राम रतन दास जी की विचित्र सी हालत हो गयी। वे हमेशा अपने प्रियतम अक्षरातीत के ख्यालों में ही खोये रहते।

जब वे मौन रहते तो लगता था कि कोई मौनी बाबा बैठे हैं और जब बोलने लगते तो लगातार बोलते ही रहते, जल्दी रुकने का नाम ही नहीं लेते। ऐसी स्थिति में कुछ लोग उन्हें "मेल गाड़ी" भी कहने लगे थे।

परमहंस महाराज श्री राम रतन दास जी हमेशा ही परमधाम के ध्यान में डूबे रहते। यद्यपि उनकी बाहरी आँखें बन्द रहा करती थीं, किन्तु आत्म-चक्षुओं से प्रियतम के दीदार में वे मस्त रहा करते थे। ऐसा लगता



था जैसे कान भी बाहर की बातों को सुनने में असमर्थ हों। कभी-कभी तो उन्हें यह भी पता नहीं रहता था कि वे कहाँ पर बैठे हैं या कहाँ जा रहे हैं?

पैदल चलते-चलते महाराज जी ताप्ती नदी के किनारे खुड़खुड़ेश्वर नामक गाँव में पहुँचे। वहाँ नदी के तट पर शंकर जी का एक मन्दिर था।

यद्यपि ताप्ती नदी में पानी थोड़ा सा था , किन्तु बहाव काफी तेज था। वह स्थान निर्जन और पवित्र होने के कारण ध्यान-साधना के लिये बहुत उपयुक्त था। किसी व्यक्ति से महाराज जी को पता चला कि उस शिव मन्दिर में एक सिद्ध महात्मा रहते हैं।

ये महात्मा जी ब्रह्मचारी थे। इनका नाम श्री रामानन्द जी था। बचपन का नाम शंकर था। इनका मूल

निवास उत्तर प्रदेश के मेरठ जिले में नगला ग्राम में था।  
ये योग साधना के क्षेत्र में उच्च स्तर के साधक थे।

महाराज जी ने वहाँ पहुँचकर उनको प्रणाम किया।  
रामानन्द जी ने विनम्रतापूर्वक अभिवादन का उत्तर दिया  
और महाराज जी को दक्षिण भारतीय पण्डित जानकर  
आदरपूर्वक आसन पर बैठाया। तत्पश्चात् निवेदन किया—  
"मैं जो भोजन बनाऊँ, क्या आप वही खा लेंगे या स्वयं  
बनायेंगे?"

"महात्मा जी! आप इस प्रकार क्यों पूछते हैं? हम  
दोनों ही महात्मा हैं। हमारे बीच शुद्ध-अशुद्ध की तो बात  
होनी ही नहीं चाहिए। आप जो भी बनायेंगे, मैं वह खा  
लूँगा।"

महाराज जी को वह स्थान बहुत प्रिय लगा। वे एक

वृक्ष के नीचे बैठ गये। उधर, थोड़ी ही देर में भोजन बन गया। भोजन बन जाने के पश्चात् रामानन्द जी ने आवाज लगायी— "महाराज जी! भोजन तैयार हो चुका है। आप आकर ग्रहण कीजिए।"

महाराज जी वहाँ पहुँच गये और भोजन करने के लिये जमीन पर बैठ गये। रामानन्द जी ने एक ही पात्र में जब सारा भोजन रख दिया, तो महाराज जी को कुछ अजीब सा लगा। उन्होंने पूछ ही डाला— "महात्मा जी! आपने अपनी थाली तो लगाई नहीं। इसका क्या कारण है?"

रामानन्द जी मौन ही रहे।

थोड़ी देर में महाराज जी ने जब दोबारा पूछा, तो उन्होंने उत्तर दिया— "महाराज जी! आप अकेले ही

भोजन कर लीजिए। मैंने आमरण अनशन का व्रत लिया हुआ है, जिसका आज सत्रहवाँ दिन है। इसलिए भोजन करना मेरे लिए सम्भव नहीं है।"

अब तो महाराज जी ने बोलना शुरू कर दिया – "यदि आप पहले ही बता देते, तो मैं भोजन कदापि नहीं बनवाता। सत्रह दिन के भूखे व्यक्ति से भोजन बनवाकर अकेले खाना मेरे लिये कदापि सम्भव नहीं है। अपना बनाया हुआ भोजन आप वापस ले जाइए।"

यह कहकर महाराज जी ने घृणा से मुँह बनाते हुए थाली की ओर से मुख फेर लिया और बोले – "ले जाओ यह भोजन, मैं इसे नहीं खाने वाला। मैं तो इस स्थान को मन्दिर मानकर आ गया, लेकिन है यह श्मशान, जहाँ सत्रह दिनों का भूखा एक मुर्दा रहता है।"

इन तीखे शब्दों को सुनकर रामानन्द जी एक अपराधी की तरह से चुपचाप खड़े रहे। वे अपने मन में सोचने लगे कि यदि मेरे यहाँ से कोई अतिथि भूखा चला जायेगा, तो महापाप होगा।

महाराज जी के प्रवचन से भी उनके मन पर बहुत चोट पहुँची। अन्त में हार मानकर वे साथ में भोजन करने के लिये विवश हो ही गये।

भोजन के पश्चात् महाराज जी ने उनसे इस आमरण अनशन का कारण पूछा। रामानन्द जी ने अपने घड़े की तरह फूले हुए पेट को दिखाया और बोले— "महाराज! मैं तिल्ली रोग से बुरी तरह पीड़ित हूँ। इससे दुःखी होकर ही मैंने अनशन करना शुरू किया था कि मैं मर जाऊँ।"

"यह रोग आपको कैसे लग गया?"

कुछ सकुचाते हुए रामानन्द जी ने उत्तर दिया- "मैं आपसे क्या बताऊँ। मैंने तामी नदी के जल में छाया सिद्धि की, जिसका परिणाम यह हुआ कि मुझे इस भयानक रोग से ग्रसित हो जाना पड़ा है। साधना की अन्तिम रात्रि मुझे अजगर ने मजबूती से जकड़ लिया था, जिससे छुटकारा पाने के प्रयास में मैं बेहोश हो गया था। मुझे अब तक यह पता नहीं है कि मुझे वहाँ से कौन उठाकर लाया था? उसी दिन मुझे यह रोग हो गया। इन तान्त्रिक सिद्धियों के साथ कोई न कोई रोग हो ही जाता है। यदि शरीर ही स्वस्थ नहीं, तो इन सिद्धियों का कोई लाभ नहीं है। मैं इस रोग से इतना दुःखी हो गया हूँ कि अनशन करके अपने प्राणों का त्याग कर देना चाहता हूँ। आज आपने मेरे अनशन का व्रत भी तुड़वा डाला।"

**अनन्त सृष्टि में सर्वशक्तिमान परमात्मा के अनन्त**

चमत्कार हैं। मनुष्य द्वारा छोटी-छोटी सिद्धियों का चमत्कार दिखाना एक प्रकार से परमात्मा के प्रति प्रतिद्वन्दिता ही है, जो आत्म-साक्षात्कार से कोसों दूर कर देता है। सिद्धियों के मकड़जाल में फँसा हुआ व्यक्ति सच्चिदानन्द परमात्मा के प्रेम और आनन्द से वंचित हो जाता है।

अभी इन दोनों में बातें चल ही रही थीं कि कोई वैद्य जी आये। वे रामानन्द जी का इलाज कर रहे थे। महाराज जी ने परिचय हो जाने के पश्चात् उनसे पूछा— "क्या आप ही इनकी चिकित्सा कर रहे हैं?"

"हाँ महाराज! मेरे पास कुछ गोलियाँ हैं और कुछ दवाइयाँ हैं। उन्हीं से इनकी चिकित्सा कर रहा हूँ।"

"मैं यह जानना चाहता हूँ कि आप कब से इनका

इलाज कर रहे हैं? ये ठीक क्यों नहीं हो पा रहे हैं?"

इस प्रकार के प्रश्नों से वैद्य भौंचक्का सा हो गया। उसने कुछ संकोच करते हुए उत्तर दिया— "मैं आपके सामने झूठ नहीं बोलूँगा। मुझे अब तक यह पता नहीं चल पाया है कि यह रोग कहाँ से उत्पन्न हुआ है?"

"यदि आपको इतना भी पता नहीं है कि रोग की उत्पत्ति कैसे हुई है, तो चिकित्सा कैसे करेंगे?"

इस प्रकार की बात सुनते ही वैद्य वहाँ से ऐसे भागा कि उसने पीछे मुड़कर देखा ही नहीं। रामानन्द जी ने भी उसे रोकने की कोई कोशिश नहीं की। महाराज जी की बातों से उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि शायद ये रोग को दूर करने में समर्थ हैं।

रामानन्द जी सिद्ध पुरुष होने के साथ-साथ विद्वान



भी थे। उन्होंने महाराज जी से उनका पूर्ण परिचय जानना चाहा।

अब तो परमहंस महाराज जी ने अवधूतों की भाषा में बोलना शुरू किया – "मैं तो संसार के दुःखी प्राणियों का उद्धार करने की इच्छा से बहुत दूर से आया हूँ। मेरी तो केवल यही इच्छा है कि सभी प्राणियों का कल्याण हो।"

इस प्रकार की अटपटी बातों को सुनकर रामानन्द जी सोचने लगे कि या तो यह कोई सिद्ध पुरुष है या कोई पागल है। यदि यहाँ रहेगा, तो मुझे दुःखी करेगा।

इसलिए उसने महाराज जी को वहाँ से चले जाने के उद्देश्य से धमकाने के अन्दाज में बोला – "इस तरह की बकवास बन्द करो। क्या अनाप-शनाप बोलते जा रहे

हो?"

उसका उत्तर देते हुए महाराज जी ने कहा—  
"तुम्हारी तो अन्दर की आँखें हैं ही नहीं कि तुम मुझे पहचान सको। तुम कोरे जीव हो। भला, तुम मुझे क्या पहचानोगे? जिसे स्वयं की ही पहचान नहीं है, वह दूसरों की क्या पहचान करेगा?"

रामानन्द जी को कुछ भी समझ में नहीं आया कि महाराज जी के कहने का क्या भाव है? वह उनसे अपना पल्ला छुड़ाना चाहते थे। उनके मन में मात्र यही बात बैठ गयी थी कि यह कोई पागल या दीवाना व्यक्ति है, जो मुझसे आ टकराया है। किसी भी तरह से यदि यह यहाँ से चला जाये, तो मुझे शान्ति मिले।

एक दिन रामानन्द जी ने महाराज जी से कहा—

"आप मेरे ऊपर कृपा करके यहाँ से चले जाइए।"

इसके उत्तर में महाराज जी ने विनम्रतापूर्वक कहा—  
"आपसे स्नेह पैदा होने से पहले तो मैं जा सकता था,  
आपको ऐसा कहने की कोई आवश्यकता ही नहीं पड़ती।  
लेकिन अब तो मैं तब तक नहीं जाऊँगा, जब तक आप  
स्वस्थ नहीं हो जाते हैं या शरीर नहीं छोड़ते। मेरे ही  
तीखे शब्दों से आपका वैद्य चला गया था। ऐसी स्थिति  
में मैं आपको छोड़कर नहीं जा सकता। यदि आप मेरे से  
बुरा व्यवहार भी करेंगे, तो भी मैं सहर्ष सहन कर लूँगा।"

यद्यपि रामानन्द जी को महाराज जी की बातों से  
चिढ़ सी थी, लेकिन इस सच्चाई को सुनकर वे चुप ही  
रहे।

इधर, परमहंस महाराज जी ने दो-चार दिन के

अन्दर अपनी वेष-भूषा बदल डाली। अपनी लंगोटी और कम्बली छोड़कर उन्होंने सब कुछ बाँट दिया। उनके इस भेष को देखकर रामानन्द जी चकित रह गये और समझ गये कि ये कोई ऊँचे महात्मा हैं। उनके हृदय में महाराज जी के प्रति श्रद्धा बढ़ने लगी। अब वे महाराज जी के मुखारविन्द से प्रवाहित होने वाली सत्संग-सुधा का पान करने लगे। अक्षरातीत तथा परमधाम का वर्णन सुनकर उनके मन में श्रद्धा की कोंपले फूट पड़ीं।

श्रद्धावान व्यक्ति ही वास्तविक ज्ञान का अधिकारी होता है। तमोगुण से ग्रसित, स्वार्थ और अहंकार के जाल में फँसा हुआ व्यक्ति कभी भी वास्तविक विद्वान नहीं बन सकता।

जैसे-जैसे रामानन्द जी के अन्दर तारतम ज्ञान का प्रकाश आता गया, उनका हृदय शुद्ध होता गया और

तिल्ली का रोग भी घटता गया। मात्र पन्द्रह दिनों के अन्दर ही तिल्ली का रोग जड़-मूल से समाप्त हो गया।

जब महाराज जी ने देखा कि अब रामानन्द जी पूर्णतः स्वस्थ हो गये हैं और मृत्यु का भय नहीं रह गया है, तो वे अपनी कम्बली और कमण्डल लेकर रामानन्द जी के पास गये तथा प्रणाम करके बोले- "महात्मा जी! मैं आज तक आपके आदेशों का उल्लंघन करके आपको बहुत कष्ट देता रहा हूँ। आप जैसे सिद्ध महात्मा को दुःख पहुँचाना उचित नहीं था। मेरी इस उद्धण्डता के लिए आप क्षमा करने का कष्ट करें। आपका प्रिय व्यवहार मुझे हमेशा याद रहेगा। मैं आपके ऋण से कभी भी उऋण नहीं हो पाऊँगा। मेरा प्रणाम स्वीकार कीजिए और मुझे जाने की स्वीकृति दीजिए।"

यह सुनते ही रामानन्द जी हक्के-बक्के से रह गये।

उनका गला रुँद्ध गया। नेत्रों से स्नेह के आँसू छलक पड़े। भरिये गले से स्नेह-मिश्रित क्रोध की वाणी में बोले— "महाराज! जब तक मैं आपके व्यक्तित्व को समझ नहीं पाया था, तब तक मैं आपका अनादर करता रहा। मैंने आपके प्रति दुष्टता का व्यवहार किया है। मेरे इस अपराध के लिये मुझे क्षमा कर दीजिए। मैं इस बात को अच्छी तरह से जानता हूँ कि मैं तो क्षमा पाने का भी अधिकारी नहीं हूँ। आपने मुझे जीवन दिया है और आप ऐसे ही चले जाएँ, यह मुझसे कदापि सहन नहीं होगा। प्रभो! मेरी आपसे यह करबद्ध प्रार्थना है कि वर्षा ऋतु का यह चतुर्मास आप यहाँ ही व्यतीत करें। उसके पश्चात् आपके साथ मैं सर्वत्र ही भ्रमण करना चाहता हूँ। मेरी यही इच्छा है कि मेरा-आपका साथ न छूटे।"

रामानन्द जी के इस प्रेम भरे आग्रह को जब

महाराज जी ने स्वीकार कर लिया, तो वे बहुत आनन्दित हुए।

वर्षा ऋतु के प्रारम्भ होते ही सत्संग प्रारम्भ हो गया। महाराज जी के श्रीमुख से चर्चा सुनने के लिये लोगों की भीड़ बढ़ने लगी। पास में ही कमरखेड़ी नाम का एक गाँव था, जहाँ से काफी संख्या में लोग आने लगे थे। उस मन्दिर की व्यवस्था कमरखेड़ी के एक पटेल के हाथों में थी। उसी के निर्देशन में सब कुछ चला करता था। उसकी इच्छा के बिना कोई भी महात्मा मन्दिर पर नहीं ठहर सकता था।

कुछ लोगों के कहने पर वह भी सत्संग में आने लगा था, लेकिन उसका ध्यान सत्संग में कम, अवगुण ढूँढने में ज्यादा था।

एक दिन महाराज जी ने उस पटेल से कहा—  
"बोलो, तुम्हें क्या दिखायें? क्या तुम नूर बाग देखना चाहते हो या यमुना जी के सातों घाट?"

यह कहकर गाँजे के एक पौधे की ओर इशारा करते हुए महाराज जी ने कहा— "पटेल जी! इस पौधे की ओर देखिए। यदि आप इसके नजदीक जाकर इसकी सुगन्धि लें, तो आप धन्य—धन्य हो जायेंगे।"

यह सुनते ही वह पटेल चिढ़ सा गया। उसने तमतमाये चेहरे से कहा— "मैंने तो आपकी कृपा से परमधाम के सभी बाग—बगीचे देख ही लिये हैं, कल थानेदार आयेगा। उसे भी दिखा देना।"

उसी लय में महाराज जी ने भी कह दिया— "हाँ, हाँ, क्यों नहीं। थानेदार को अपने साथ ही लेकर



आइएगा, तथा अन्य मित्र भी यदि आना चाहें तो उनको भी लेकर आइयेगा। आप जिसे भी परमधाम के दर्शन कराना चाहते हैं, निश्चिन्त होकर उसे अवश्य लाइए।"

इस प्रकार का उत्तर सुनकर वह पटेल अन्दर ही अन्दर क्रोध से आग-बबूला हो गया और बिना रुके सीधे घर चला गया। अगले दिन महाराज जी को पकड़वाने की नीयत से थानेदार को लेकर आ गया और व्यंग्य की मुद्रा में बोला – "बाबा जी! वे बाग-बगीचे कहाँ हैं? जरा उनके दर्शन तो कराइए। मेरे साथ ये थानेदार साहब भी आये हुए हैं। इनकी भी दर्शन करने की इच्छा है।"

महाराज जी ने बहुत ही हर्ष से कहा – "जो दर्शन करने की भावना से आ रहे हैं, उन्हें अवश्य दर्शन होगा। पहले इन्हें बैठाइए तो।"

वह थानेदार मुसलमान था। उसकी तरफ लक्ष्य करके महाराज जी ने कहा— "आप मेरे नजदीक आकर बैठिए। बोलिए, क्या देखना चाहते हैं? आपको जबरूत (अक्षरधाम) दिखाऊँ, या लाहूत (परमधाम), या हाहूत (मूल मिलावा)? आप जोए (यमुना जी) के जल का स्वाद लेना चाहते हैं, या हौज कौशर में घूमना चाहते हैं? यदि आप इस्राफील और जिबरील से मिलना चाहते हैं, तो मैं वहाँ भी ले चल सकता हूँ। हाँ! जरा वह देखिए! वह नूर बाग है। अमृत वन के वृक्षों की डालियों की ओर जरा ध्यान से देखिए। यह सारा दर्शन आप पटेल जी की कृपा से ही कर रहे हैं।"

पुनः गाँजे के पौधे की ओर इशारा करते हुए बोले— "वह देखिए! उसका दर्शन तो बिना परमात्मा की कृपा के हो ही नहीं सकता।"

महाराज जी उस थानेदार को नहीं पहचान सके थे, किन्तु उसने पहचान लिया। यह वही थानेदार था, जिसे महाराज जी ने पाँजरा नदी के संगम पर लगे मेले में डाँटा था। उसका स्थानान्तरण मुड़ावद से इस क्षेत्र में हो गया था। उसे बहकाकर पटेल ने महाराज जी को कैद कराना चाहा।

थानेदार ने महाराज जी को पहचान लिया कि ये तो मेले वाले ही फकीर हैं। बस...फिर क्या था? थानेदार ने महाराज जी को बीच में ही रोककर कहा – "साईं जी! बस कीजिए! परमधाम के बाग-बगीचे मैंने बहुत देख लिए।"

"मैंने तो अभी सब कुछ दिखाया ही नहीं है। अभी तो परमधाम का बहुत बड़ा हिस्सा बाकी है।"

थानेदार चरणों में झुककर बोला – "साईं साहब! मैं प्रत्येक पन्द्रहवें दिन आपके दर्शन के लिये आया करूँगा। धीरे-धीरे आप जो कुछ भी दिखलायेंगे, उसे मैं देखता जाऊँगा।"

चलते समय उसने चरणों में दस रुपये की भेंट भी चढ़ाई, किन्तु परमहंस महाराज जी ने उसे लेने से इन्कार कर दिया और कहा – "थानेदार साहेब! आप ही बताइए कि मैं इन पैसों का क्या करूँ? मुझे धन की कोई आवश्यकता ही नहीं पड़ती। मुझसे धन का बोझ नहीं ढोया जायेगा।"

यह सुनकर उसने महाराज जी के कदमों को चूमा। अब पटेल को भी महाराज के चरणों में मजबूर होकर प्रणाम करना पड़ा।

इन दोनों के नतमस्तक हो जाने पर जनता में महाराज जी की बहुत अधिक प्रसिद्धि हो गयी। लोग बहुत अधिक संख्या में महाराज जी का सत्संग सुनने आने लगे। उनमें महाराज जी के प्रति इतनी श्रद्धा हो गयी कि जब ताप्ती नदी को पार करने का कोई साधन नहीं मिलता, तो वे उसे तैरकर पार करने के लिये छलांग लगा जाते।

चतुर्मास बीत जाने पर महाराज जी ने जैसे ही जाने की बात की, सत्संगी लोग बहुत दुःखी हो गये। उन लोगों ने महाराज जी से उनके गाँव चलने की प्रार्थना की।

उस गाँव में द्वेष के कारण दो वर्ग थे। एक वर्ग के लोगों का दूसरे वर्ग के लोगों से किसी प्रकार का सामाजिक सम्बन्ध नहीं था। यहाँ तक कि आपस में

खानपान भी नहीं था।

उस गाँव में ऐडू नामक एक पटेल भी था, जो गुटबाजी के कारण आज तक महाराज जी के चरणों में नहीं जा सका था। जैसे ही महाराज जी गाँव में पहुँचे, आपस में खैँच-तान शुरू हो गयी। प्रत्येक वर्ग का व्यक्ति महाराज जी को अपने ही घर ले जाना चाहता था।

उनके उस विवाद को दूर करने के लिये महाराज जी ने स्पष्ट रूप से कह दिया कि मैं तो केवल ऐडू पटेल के यहाँ ही ठहरूँगा, और चल पड़े ऐडू के घर।

ऐडू पटेल ने जब देखा कि महाराज जी तो मेरे घर बिना निमन्त्रण के ही आ रहे हैं, तो वह उनकी महानता के आगे नतमस्तक हो गया। उसने सच्चे हृदय से महाराज जी का स्वागत किया।

स्नेह और सम्मान करने वालों से स्नेह करना तो बहुत सरल है, किन्तु अपरिचित, विरोधी, और घृणा करने वालों से भी स्नेह और शुभकामना की सुगन्धि फैलाने वाला करोड़ों में कोई एक होता है। वह ही विलक्षण व्यक्तित्व का स्वामी होता है।

ऐड्डू पटेल ने महाराज जी से निवेदन किया कि आपको भोजन करके ही यहाँ से जाना होगा। महाराज जी के वहाँ विराजमान होने से दोनों पक्षों के लोग एकत्रित हुए। पटेल जी ने सबका स्वागत किया और महाराज जी को सभी के आपसी विवाद के विषय में बताया— "महाराज जी! हम लोग आपस में द्वेषवश एक दूसरे के पास उठते-बैठते तक नहीं हैं। यह सारा द्वेष दो गुटों के परस्पर विरोध के कारण है।"

उसकी बात सुनकर महाराज जी ने कहा— "ऐड्डू

जी! बड़ों को क्षमाशीलता ही शोभा देती है। छोटे तो उत्पात किया ही करते हैं। भूत को भुला कर भविष्य के विषय में सोचना चाहिए। आपने मुझे भोजन कराने के लिये कहा था। मेरी भी एक शर्त है कि यदि सभी गाँव वाले मिलकर एकसाथ भोजन करें, तभी मैं भोजन ग्रहण करूँगा, अन्यथा नहीं।"

महाराज जी के इस कथन से ऐडू पटेल बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने तुरन्त २०० रुपये मँगवाकर प्रीतिभोज की सेवा में दे दिया।

सबको सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा— "आप सभी मिलकर प्रीतिभोज की सेवा एकत्रित कीजिए। शेष जो कमी होगी, उसे पूर्ण करने की सेवा मेरी होगी।"

प्रीतिभोज बहुत ही सौहार्दपूर्ण वातावरण में हुआ।



सभी लोग भोजन करने के पश्चात् एक-दूसरे के गले मिले। अब उनमें किसी भी प्रकार का द्वेष या भेदभाव नहीं रहा।

भोजन करने के पश्चात् उस गाँव के लोगों ने महाराज जी से कहा— "जब से यह गाँव बसा है, तब से आज तक इस प्रकार के प्रेममयी वातावरण में हमने कभी भी भोजन नहीं किया। यह सब आपके चरणों के प्रताप से ही हुआ है। आपने सभी को प्रेम का प्याला पिलाकर आपसी फूट और द्वेष को मिटा दिया है। हम सब लोगों का यह अहोभाग्य है कि हमें आपके चरण—कमल मिले हैं।"

अगले दिन छलकते नेत्रों से सभी ने महाराज जी का अभिनन्दन किया और चार घोड़ों का एक रथ सजाकर महाराज जी को उस पर बैठाया। उस रथ से

उन्होंने अगले गाँव वालों को सेवा करने का अवसर दिया। इस प्रकार उन गाँव वालों ने अगले गाँव में महाराज जी को सादर पहुँचाया।

इस प्रकार यह कार्यक्रम चार दिनों तक चलता रहा। अन्त में स्वयं महाराज जी ने ही गाँव वालों से आग्रह किया कि वे उन्हें जाने दें। बड़ी कठिनाई से गाँव वाले राजी हुए। गाँव वालों से विदा होने के पश्चात् महाराज जी जब चलने लगे, तो रामानन्द जी ने पूछा— "प्रभो! कहाँ चलना है?"

"जहाँ आपकी इच्छा हो, उधर ही चलिए। मेरी स्थिति तो पागलों की तरह है। कहीं जाने का न तो मेरा कोई लक्ष्य है और न सुध है। जहाँ सद्गुरु की प्रेरणा होती है, मैं वहीं चल देता हूँ।"

कुछ देर तक सोचने के पश्चात् रामानन्द जी बोले—  
"कलकत्ते के एक सेठ ने मुझे बुलवाया है। यदि वहाँ  
चला जाये तो अच्छा रहेगा।"

"ठीक है, वहीं चलते हैं।"



## (१४)

कई दिन की यात्रा करते-करते महाराज जी और रामानन्द सांईखेड़ी जा पहुँचे।

वहाँ पर तीन सौ वर्ष की अवस्था के एक महात्मा रहा करते थे, जिनका नाम था केशवानन्द परमहंस।

वे पूर्णतया नग्न रहा करते थे। उनकी आँखों की भौँहे तक सफेद पड़ गयी थीं। दाँत न होने से उनकी बोली ऐसी हो गयी थी कि किसी को समझ में ही नहीं आती थी। जब वे बोलते थे, तो उनका मुँह बन्दर की तरह हो जाया करता था।

अधिक उम्र वाला होने के कारण दर्शन करने वालों का ताँता लगा रहता था। वे हमेशा अधलेटे से रहते। स्वयं उठ नहीं पाते थे। जब कोई उठाता, तभी वे उठ

पाते।

एक बार एक धनवान व्यक्ति की लड़की उनके दर्शन करने के लिये आयी। उसकी वेश-भूषा पूर्णतया विदेशी थी। वह कुछ ही दिन पहले इंग्लैण्ड से लौटकर आयी थी।

परमहंस जी ने जब उस लड़की को खड़े हुए देखा, तो उसे हाथ से संकेत देकर बुलाया। जब वह निकट आकर बैठ गयी, तो वे उसके सिर पर हाथ फेरने लगे। फेरते-फेरते उन्होंने उसके मुख और बाँहों को भी छू लिया।

बस.....फिर क्या था? लड़की का चेहरा क्रोध से लाल हो गया। तमतमाते चेहरे के साथ पैर पटकते हुए वह घर चली गयी।

वह लड़की पाश्चात्य संस्कृति के रंग में इतनी रंग चुकी थी कि परमहंस जी के पवित्र मनोभावों को समझ पाना उसके लिये सम्भव ही नहीं था।

त्रिगुणातीत पुरुषों की लीला को समझना बहुत कठिन है। यदि वे किसी को स्पर्श भी करते हैं तो उनमें मनोविकार का लेश भी नहीं रहता, इसके विपरीत, सामान्य मनुष्य भले ही किसी को न छुएँ, किन्तु वे अपने को मनोविकार रूपी अग्नि से नहीं बचा पाते।

घर जाकर उसने पिता को रो-रोकर सारी बातें बतायीं। उसने पिता को यह बात अच्छी तरह बतायी कि वे दर्शन के योग्य नहीं हैं। उनके मन में पापमयी वासना है।

बेटी की शिकायत से पिता का क्रोध सातवें आकाश

पर पहुँच गया। धन की गर्मी ने उसके क्रोध को और बढ़ा दिया। उसने अपने मन में यह निर्णय कर लिया कि चाहे कुछ भी हो जाये, इस महात्मा को यहाँ से भगाना ही है।

उस लड़की के पिता ने अंग्रेज कलक्टर से शिकायत की— "हुजूर! वह आश्रम गुण्डे लोगों का निवास है। उन सबको वहाँ से बाहर निकालना चाहिए। मेरी बेटी वहाँ गयी थी। उन्होंने उसके साथ बहुत बुरा व्यवहार किया।"

"डोन्ट वरी, आई विल सी", कहकर अंग्रेज स्वयं उस आश्रम में जा पहुँचा। वह परमहंस जी की गादी के सामने जाकर खड़ा हो गया। उसने न तो परमहंस जी को प्रणाम किया और न कोई आदरसूचक शब्द ही बोला।

उस अंग्रेज के साथ लड़की का पिता भी था। पहली

बार उन दोनों की दृष्टि तीन सौ वर्ष की उम्र वाले मानव पर पड़ी थी।

अंग्रेज कलक्टर ने अपने सिर पर टोप पहन रखा था। परमहंस जी ने उससे वह टोप माँगा।

उसने वह टोप उतारकर दे दिया। किन्तु यह क्या.....? परमहंस जी ने उसी टोप के अन्दर मूत्र त्याग किया और उस अंग्रेज को अपने सिर के ऊपर रखने के लिये भी कहा।

परमहंस जी की इस करतूत को देखकर सभी लोग चकित थे। यह कार्य तो उस अंग्रेज कलक्टर का प्रत्यक्ष अपमान था।

अंग्रेज के साथ गये हुए सभी छोटे अधिकारियों की तयोरियाँ चढ़ गयीं।



लड़की के पिता उस सेठ का तो बुरा हाल हो गया। उसने जिलाधीश से कहा— "मैंने आपसे जो पहले कहा था, वह आपने प्रत्यक्ष देख ही लिया। इन्हें अभी डण्डे लगाकर इस आश्रम से भगा दीजिए।"

परमहंस जी ने वह टोप एक छोटे से अधिकारी के हाथ में दे दिया था कि वह उसे अंग्रेज कलक्टर को दे देवे। जैसे ही वह टोप अंग्रेज के पास पहुँचा, उसमें चमेली के सुगन्धित फूल दिखायी पड़ने लगे।

लोगों की आँखें उस समय आश्चर्य से फटी की फटी रह गयीं, जब उन्होंने देखा कि टोप के सिर पर रखते ही उसमें से चमेली के सुन्दर फूल झड़ने लगे और वातावरण में चारों ओर मीठी सुगन्धि फैल गयी।

यह दृश्य देखकर सभी ने दाँतों तले अँगुली दबा

ली। सभी के मुख से वाह-वाह निकल पड़ी।

अब तो उस अंग्रेज अधिकारी ने सेठ को कड़ी नजरों से देखा। सेठ सहम गया। उसे ऐसा लगा जैसे कि वह जीवित ही मर गया हो। जिलाधीश ने सेठ को बुरी तरह से डाँटा- "तुम इन्हें गुण्डा कहते हो, जबकि वास्तव में तुम ही गुण्डे हो। इनको परमात्मा का ही स्वरूप समझो। यदि इन्हें कोई भी कष्ट हुआ, तो तुम्हें इसका दण्ड भुगतना पड़ेगा।"

यह कहकर उस अंग्रेज कलक्टर ने परमहंस जी को प्रणाम किया और चला गया। इस लीला के बाद परमहंस जी के प्रति सभी के मन में बहुत अधिक आदर-सत्कार की भावना आ गयी।

**वर्तमान जगत अज्ञानता के अन्धकार में इतना**

अधिक डूबा हुआ है कि परमात्मा को तो भले ही न पहचानें, लेकिन चमत्कार दिखाने वाले पर सर्वस्व समर्पण कर देते हैं।

कुछ दिनों तक परमहंस जी के आश्रम में महाराज जी और रामानन्द जी साथ-साथ ठहरे रहे। पुनः चल दिए। कभी वे पैदल चलते, तो कभी वाहन का भी सहारा ले लेते। अन्त में प्रयागराज त्रिवेणी पहुँच गये।

त्रिवेणी पार करके वे कई किलोमीटर दूर तक चले गये। मार्ग में एक महात्मा जी की कुटिया देखकर रामानन्द जी ने वहाँ ठहरने के लिये आग्रह किया। दोनों ही एक अतिथि के रूप में ठहर गये।

थोड़े से सम्पर्क मात्र से रामानन्द जी उस महात्मा से घनिष्ठता कर बैठे। बातचीत के क्रम में उस महात्मा ने

पूछा- "आप लोग ट्रेन में बिना टिकट के चलते हैं या पैसे से टिकट लेकर?"

"हम तो बिना टिकट के ही चलते हैं।"

"आप कैसे महात्मा हैं कि अपना खर्च स्वयं नहीं चला सकते। मुझे देखिये, जब मुझे कहीं जाना होता है तो मैं ठाट-बाट के साथ जाता हूँ, क्योंकि मैं ताम्बे को शुद्ध सोने के रूप में परिवर्तित कर लेता हूँ।"

रामानन्द जी उस महात्मा के जाल में फँस गये। चोरी छिपे ताम्बा गलवाने वे नगर में पहुँचे। सुनारों ने कहा कि यदि हमारे सामने ही बनाओगे तथा हमें भी वह रहस्य बताओगे, तभी हम ताम्बा गला सकेंगे।

दोनों चोरी छिपे ही बनाना चाहते थे, अतः वापस लौट आये। महाराज जी से छिपाकर दोनों ही ताम्बे से

सोना बनाने के सम्बन्ध में बातें करते रहते।

रामानन्द जाल में फँस चुके थे। उन्हें अब परमात्मा की भक्ति से कोई भी लेना-देना नहीं रह गया था। उन्हें उठते-बैठते सोते-जागते केवल स्वर्ण का ही चिन्तन रहता था।

सच्चा सन्यासी वही है, जो सोने और मिट्टी में समबुद्धि रखे। सन्यास लेकर भी यदि स्वर्ण का मोह सताता है, तो यह अपराध सन्यास पर दाग लगाने वाला है।

उस जालसाज साधू के फन्दे में पड़कर रामानन्द जी ने अपना साफा, कम्बली, और चादर भी दे दी। एक दिन जब वे प्रातःकाल उठे, तो देखा कि साधू तो नौ-दो-ग्यारह हो गया है।

रामानन्द ने उसे बहुत ढूँढा, लेकिन कहीं भी पता नहीं चल सका। महाराज जी ने चुटकी लेते हुए कहा— "रामानन्द! सोना बनाने की कला सिखाने वाले तुम्हारे गुरुदेव तो चले गये। अब शेष जीवन कैसे कटेगा?"

रामानन्द अपने अपराध-बोध से ग्रसित था। उसके पास कोई उत्तर नहीं था। वह तो पश्चाताप की अग्नि में जला जा रहा था। अपने वस्त्रों को खो देने का उसे बहुत कष्ट था।

सन्यासी समाज का सर्वोपरि व्यक्ति होता है। यदि वह ही धर्म की मर्यादा का हनन करे, तो समाज का पतन निश्चित है। जिस दिन भारत के लाखों सन्यासी स्वयं को धर्म की कसौटी पर खरा सिद्ध कर देंगे, उस दिन पृथ्वी पर आध्यात्मिकता का स्वर्गीय साम्राज्य स्थापित हो जायेगा।

वहाँ से चलकर महाराज जी मिर्जापुर पहुँचे। कुछ दिन वहाँ ठहरकर वैद्यनाथ जी के मन्दिर पहुँच गये। लगभग ८ कि.मी. के घेरे में यह बहुत ही पवित्र स्थान था। उसमें निवास करने मात्र से वैराग्य उत्पन्न होने लगता था। ध्यान में भी प्रगति बहुत शीघ्र होने लगती थी।

कुछ दिन रामानन्द जी के साथ वहाँ रुककर महाराज जी आगे चल दिए। मार्ग में उनकी भेंट देवगिरि नामक एक साधू से हुई, जो बहुत ही प्रेम भाव वाले थे।

गंगा के किनारे-किनारे चलकर वे नामखेड़ी घाट पर पहुँचे, जहाँ एक आश्रम बना हुआ था। उस आश्रम के चारों ओर एक भयानक जंगल था, जिसमें बहुत से जानवर रहा करते थे।

इस आश्रम में स्वामी चन्द्रशेखर जी परमहंस सूक्ष्म शरीर से विचरण किया करते थे। कभी-कभी किसी भक्त को उनका दर्शन हो जाया करता था। जब वे आश्रम में विचरण करते थे, तो उनकी खड़ाऊँ की आहट सुनायी पड़ती थी। भक्तजन परमहंस जी की महिमा गाते रहते थे।

उनके पुत्र का नाम शंकरराव था। शंकरराव की पत्नी बहुत ही सती-साध्वी स्त्री थी। उनके पुत्र का नाम था ओंकारेश्वर नाथ।

आश्रम में पहुँचकर रामानन्द और देवगिरि भोजन बनाने लगे। इतने में शंकरराव की पत्नी आयी और बोली- "भोजन तो मैं ही बना दूँगी। आप इस प्रकार का कष्ट क्यों करते हैं? जैसे मैं औरों का बनाती हूँ, वैसे ही आपका भी बना दूँगी।"



बहुत मना करने पर भी वह नहीं मानी और उसने बहुत ही श्रद्धा से भोजन बनाया। इस प्रकार वह प्रतिदिन ही भोजन बनाने की सेवा करने लगी।

संसार में प्रत्येक रोग का निदान (इलाज) सम्भव है, किन्तु वहम का नहीं। इस रोग की चपेट में आने वाला कभी भी सुखी नहीं रहता। इसके कारण ही न जाने कितनों पर वज्राघात होता है और कितने रिश्ते हमेशा के लिये टूट जाया करते हैं।

एक बार महाराज जी सहित दोनों महात्मा भोजन कर रहे थे। वह देवी तीनों को भोजन करवाने में तल्लीन थी। इतने में शंकरराव आ गये। उन्होंने देखा कि उनकी पत्नी तो परपुरुषों की सेवा कर रही है।

बस, फिर क्या था.....। उसके हृदय में घृणा का

ज्वालामुखी दहक उठा। वह चुपचाप अपने कमरे में जाकर बैठ गया। महाराज जी सहित दोनों महात्माओं को भोजन कराने के पश्चात् वह देवी शंकरराव के पास पहुँची और बोली— "आइए! आप भी भोजन कर लीजिए।"

"उन महात्माओं को ही खिलाओ और उन्हीं की सेवा करो। मुझे भूख नहीं है। चली जाओ यहाँ से। मुझसे कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है।"

उस समय वह लौट आयी, किन्तु थोड़ी देर के बाद पुनः पति के पास जाकर भोजन के लिये निवेदन किया। शंकरराव पुनः उत्तेजित होकर अपशब्दों की बौछार करने लगा— "खबरदार! जो तुम पुनः मेरे पास आयी। जाओ, उन महात्माओं को खिलाओ और सेवा करो। एकमात्र उन्हीं से तुम्हारा सम्बन्ध है।"

इस प्रकार का आरोप सुनकर वह देवी स्तब्ध रह गयी। उसके मन में रोष सा प्रगट हुआ। अपने पुत्र ओंकारेश्वर को तो कुछ खिला दिया, किन्तु स्वयं भूखी ही रही। समय गुजारने एवं अपने मन को शान्त करने के लिये, उसने झांझ उठाकर भजन गाना शुरू कर दिया।

उधर शंकरराव के अन्दर का राक्षस जाग उठा। वह अचानक ही अपनी पत्नी के पास पहुँचा और उसके बाल पकड़कर लातों-घूसों से मारने लगा। साथ ही साथ अश्लील से अश्लील गालियाँ भी देते जाता था।

मारपीट का शोर सुनकर ओंकारेश्वर सहित आश्रम के सभी लोग आ गये। शंकरराव ने अपने पुत्र से कहा – "ओंकारेश्वर! मेरा तुम लोगों से अब कोई भी सम्बन्ध नहीं रहेगा। मैं तुम्हारे लिये मर गया और तुम भी मेरे लिये मर गये। मेरे रुपये और बिस्तर लेकर आओ।"

ओंकारेश्वर ने शान्त भाव से उत्तर दिया—  
"पिताजी! धन तो आपकी धरोहर है। आपकी जब भी इच्छा हो, उसे ले सकते हैं। आप कृपा करके मत जाइए। आपके जाने से संसार में हमारी बहुत अधिक बदनामी होगी और हमें दुःखी होना पड़ेगा।"

किन्तु शंकरराव क्रोध के वशीभूत था। किसी के समझाने का उस पर कोई भी असर नहीं पड़ा। विवश होकर ओंकारेश्वर ने उसके सभी रुपये और बिस्तर लाकर दे दिया। शंकरराव अपनी रोती-बिलखती पत्नी को छोड़कर चले गये।

आठ दिन पूर्व परमहंस जी ने स्वप्न में दर्शन देकर शंकरराव को समझाया था कि परमात्मा का भजन करो और किसी बात की चिन्ता नहीं करो। तुम्हारा पुत्र ओंकारेश्वर एक दिन बहुत उच्च महात्मा बनेगा।

शाम का समय था। शंकरराव स्टेशन की ओर जा रहा था। मार्ग में पल-पल बाघ आदि हिंसक जन्तुओं का भय बना रहता था। जैसे ही वह मार्ग के मध्य में पहुँचा, पीछे से उसे सुनायी पड़ा- "ठहर! कौन है, जो भागा हुआ जा रहा है?"

यह सुनते ही वह घबरा गया। पीछे मुड़कर देखा तो कोई भी दिखायी नहीं पड़ा, किन्तु सिर पर छड़ी की मार पड़ी जिससे खट की आवाज हुई।

मार खाते ही शंकरराव धरती पर गिर पड़ा। पुनः सुनायी पड़ा- "क्यों रे! तुम्हें होश नहीं आया? एक हफ्ते पूर्व ही तो मैंने तुम्हें समझाया था, लेकिन मूर्ख! तुझे बात जरा भी समझ में नहीं आयी।"

यह वाक्य पूरा होते ही सिर पर फिर "खट" की

आवाज के साथ छड़ी की मार पड़ी। उसके बाद तो दनादन छड़ी पड़ने लगी। अब शंकरराव का बहुत बुरा हाल था। अपनी सुरक्षा के लिये उसने जमीन पर बिस्तर फेंक दिया, तथा इधर-उधर भागने लगा। छड़ी की मार कभी कमर पर पड़ती, तो कभी सिर पर, और कभी नितम्बों पर। मारने वाला दिखायी भी नहीं पड़ता था, केवल खट की आवाज आया करती थी।

पिटते हुए शंकरराव को परमहंस जी की आवाज सुनायी पड़ी— "किसी पुण्यात्मा पर कलंक लगाकर तू ऐसे ही चला जायेगा क्या? तूने एक महात्मा को कलंकित करने का प्रयास किया है। यहाँ से चलकर उनसे क्षमा माँग। जब तक तुम क्षमा नहीं माँगोगे, तब तक तुम्हें नहीं छोड़ूँगा।"

शंकरराव जमीन पर लेटा हुआ चीख रहा था। पुनः

उसे ये शब्द सुनायी पड़े- "चलो! अभी वापस आश्रम।" साथ ही कमर में लात की मार भी लगी। अब तो शंकरराव बिस्तर लेकर आश्रम की ओर भाग पड़े।

इधर, पत्नी का बहुत बुरा हाल था। वह रो-रोकर अपने पति को पुकार रही थी।

इतने बुरे आरोप को देखकर रामानन्द और देवगिरि ने महाराज जी से कहा कि हमें यहाँ से चुपके से चल देना चाहिए। इस पर महाराज जी ने उन्हें समझाया कि इस प्रकार के आरोप को लेकर हम कहाँ जायेंगे?

जिसने यह मिथ्या आरोप लगाया है, जब तक उसे समझ में न आ जाये, तब तक जाना ठीक नहीं है।

इतने में रोती हुई वह देवी आयी और महाराज जी के चरणों में प्रणाम करके बोली - "आप तो मेरी हालत

देख ही रहे हैं, फिर भी आप कुछ बोल क्यों नहीं रहे हैं? आठ दिन पहले ही परमहंस जी ने उन्हें सावचेत कराया था कि मुझको अपने से दूर न समझो और भजन किया करो, लेकिन उनकी अक्ल पर पत्थर पड़ गया है। अब तो हमें कोई भी सहारा नहीं दिखायी पड़ता।"

महाराज जी ने उसे दुःखी देखकर समझाया— "अब शान्त हो जाओ। घबराने की कोई आवश्यकता नहीं है। तुम्हारे पति को जब परमहंस जी ने स्वप्न में सावचेत किया था, तो वे ही उन्हें लौटाकर भी लायेंगे। तुम केवल अपनी आत्मा के प्रियतम का भजन करती जाओ।"

एक घड़ी के बाद ही सबने देखा कि शंकरराव शराबी की हालत में अपने सिर पर बिस्तर रखे हुए आश्रम के अन्दर आ रहे हैं। डण्डे की मार खाकर उनकी स्थिति बहुत दयनीय हो गयी है।



जैसे ही वे परमहंस जी की समाधि के सम्मुख आये, जमीन पर ऐसे गिर पड़े जैसे किसी पहलवान ने दाँव लगाकर पटक दिया हो। शंकरराव के मुख से चीख निकल गयी।

जब सभी लोग दौड़कर उसके पास गये, तो वह बेहोश पड़ा हुआ था। शंकरराव की पत्नी ने उसके सिर को अपनी गोद में रख लिया तथा पँखे से हवा करना शुरू किया, ताकि होश आ जाये।

थोड़ी देर के पश्चात् जब उसने आँखें खोलीं, तो उसकी पत्नी बोली— "ऐसा लगता है कि आज अवश्य ही आपको परमहंस जी के दर्शन हो गये हैं।"

धीमे स्वर में शंकरराव बोला— "दर्शन तो नहीं हुए, लेकिन उन्होंने बहुत मार लगाई है। बेटे, ओंकारेश! कहाँ

हो तुम?"

"पिताश्री! मैं तो आपके सामने ही हूँ। आदेश कीजिए।"

"बेटे! यदि तुम्हारे पैर में जूता है, तो उससे मेरी पिटाई कर। इसे तुम सेवा समझो या हुक्म, किन्तु जी भरकर पिटाई करो।"

पुनः अपनी पत्नी के पैरों की ओर देखते हुए बोले—  
"यदि तुम्हारे पास जूता हो, तो तुम्हीं मार लो। मुझसे अधिक पाखण्डी और अधम व्यक्ति इस संसार में कहीं भी नहीं है।"

इस प्रकार वह बैठे-बैठे घण्टों तक पश्चाताप के आँसू बहाता रहा।

जब सभी आरोप शंकरराव ने वापिस ले लिये, तब

महाराज जी ने देवगिरि तथा रामानन्द जी से कहा –  
"अब अपने गन्तव्य लक्ष्य की ओर प्रस्थान करने का समय है।"

अपना-अपना सामान उठाकर तीनों वहाँ से चल पड़े। सभी ने अपने मन में ठान लिया था कि दरभंगा से होते हुए कोलकाता चलेंगे।



## (१५)

चलते-चलते वे ओंकारेश्वर महादेव के मन्दिर में पहुँचे। उसमें शिवलिंग पर स्वर्ण-पत्र चढ़ा हुआ था। सभी वहीं पर कुछ दिनों के लिये ठहर गये।

अगले दिन रामानन्द ने कहा- "आज राजा का किला देखने की इच्छा है।"

इस बात पर महाराज जी बोले कि पत्थरों की मूर्तियों से हमें अब तक तो कुछ प्राप्त हुआ नहीं। अच्छा होगा यदि किसी चेतन प्राणी का ही दर्शन कर लिया जाये।

रामानन्द जी को महाराज जी की बात अच्छी लगी। किले में ही राजा रहता है। इस प्रकार किला देखने जाने से दोनों का ही दर्शन हो जायेगा।

रामानन्द जी राजा से मिलने की युक्तियाँ बतलाने लगे। कभी कहते कि पत्र लिखा जाये। उसे द्वारपाल को दिया जाये। द्वारपाल राजा को देगा, तो दर्शन होंगे। कभी कहते कि यदि द्वारपाल की कृपा हो जाये, तो दर्शन होंगे।

महाराज जी थोड़ी देर तक उनकी युक्तियाँ सुनते रहे, लेकिन कोई भी युक्ति उन्हें पसन्द नहीं आयी। महाराज जी की दृष्टि में राजा एक साधारण मनुष्य के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं था। उन्होंने रामानन्द जी से स्पष्ट कह दिया – "आप लोग मेरे साथ चलकर देखिए, मैं कैसे आप लोगों को राजा से मिलाता हूँ?"

जब राजमहल के द्वार पर ये लोग पहुँचे, तो द्वारपाल ने रोक दिया और बोला – "आप लोग कहाँ जा रहे हैं?"

"राजा से मिलने के लिए।"

"पीछे हटिए! यहाँ कोई राजा नहीं रहता।"

"तो क्या यहाँ की गद्दी सूनी रहती है?"

यह सुनकर अपनी आँखें लाल करते हुए द्वारपाल बोला— "कहीं गद्दी भी सूनी रहती है? उस पर युवराज विराजमान हैं।" यह कहकर द्वारपाल चुप हो गया।

उसके चुप हो जाने पर महाराज जी ने कहा— "जब राजा नहीं है, तो युवराज से ही चलो मिल लेते हैं।"

द्वारपाल अब समझ गया कि ये लोग रुकने वाले नहीं हैं, अन्दर अवश्य जायेंगे, तो रोकने के उद्देश्य से बोला— "वे लटकती हुई तलवारें राजा जी की ही हैं। आप उनके दर्शन करके यह मान लीजिए कि हमने राजा का दर्शन कर लिया।"

महाराज जी ने व्यंग्यपूर्वक तेज शब्दों में उत्तर दिया— "पहरेदार! क्या हम लोहे का दर्शन करने के लिये आये हैं? राजा भी तो आखिरकार मानव ही है। तुम्हारे कहने मात्र से परमात्मा तो बन नहीं जायेगा। तुम इस प्रकार के बड़े-बड़े बोल न बोलो। तुम जरा होश में रहकर बोला करो। क्या तुम यही समझते हो कि हमें आज तक कोई राजा मिला ही नहीं।"

अब द्वारपाल कुछ नरम पड़ा। बोला— "महाराज! अब चुप हो जाइए। राजकुँवर अभी स्नान करके एक महल से दूसरे महल में जायेंगे, तब आप दर्शन कर लीजिएगा।"

महाराज जी ने कहा कि "यदि ऐसी बात है, तो राजकुमार के गुजरने के पाँच मिनट पहले हमें बता देना।"

"अच्छा", कहकर द्वारपाल अपने पहरे पर चला गया और ये लोग निश्चिन्त होकर बैठ गये। सबने यह मान लिया कि पहरेदार समय पर अवश्य सूचना देगा।

कुछ देर के पश्चात् द्वारपाल जल्दी-जल्दी धीमे शब्दों में कहने लगा – "अरे खड़े हो जाओ, अरे खड़े हो जाओ।"

उसकी यह बात किसी को समझ में नहीं आयी कि वह खड़े होने के लिये क्यों कह रहा है? सभी उसका मुँह देखने लगे।

इतने में राजकुमार एक कमरे से निकलकर दूसरे कमरे में जा घुसा। राजकुमार के जाते ही द्वारपाल घुड़कने लगा – "तुम लोगों ने युवराज का अपमान किया है। जब वे आये, तो तुमने खड़े होकर उनका सम्मान



क्यों नहीं किया? मैंने खड़े होने के लिये बार-बार संकेत किया था।"

महाराज जी समझ गये कि बिना किसी कारण के यह बकता जा रहा है, इसे रोकना होगा। यह सोचकर उन्होंने कहा— "चुप रहो! तुम्हें कहा नहीं था कि राजकुमार के आने के पाँच मिनट पहले सूचित कर देना। तुमने ऐसा क्यों नहीं किया? इसका उत्तर दो। तुम्हें तब देखना चाहिए कि हम उनका अपमान करते हैं या सम्मान। रामानन्द! चलो यहाँ से, इस पागल से बात करने की कोई भी आवश्यकता नहीं है। जिसका द्वारपाल ही ऐसा पागल है, उस राजा का क्या हाल होगा?"

यह कहकर सभी ने राजमहल छोड़ दिया और बाहर एक पत्थर पर आकर बैठ गये।

राजकुमार ने सारी बातें सुन ली थीं। उन्होंने द्वारपाल को बुलाकर डाँटा— "तू किस अधिकार से महात्माओं को डाँट रहा था? क्यों तुम मेरे ऊपर पाप का बोझ चढ़ाना चाह रहा था? जब मैं बाहर निकला, तो तुमने उन्हें खड़े होने के लिये क्यों कहा? तुम्हीं बताओ कि हमें मस्तक झुकाना चाहिए या महात्माओं से झुकवाना चाहिए। जब उन्होंने पाँच मिनट पहले सूचित करने के लिये कहा था, तो तुमने उन्हें सूचना क्यों नहीं दी? दोष तो तुम्हारा है और उल्टे डाँटते दूसरों को हो। जाओ, उन्हें आदरपूर्वक ले आओ, अन्यथा तुम्हें इसकी सजा भोगनी होगी।"

द्वारपाल भागा-भागा महाराज जी के पास आया और बोला— "महात्मा जी! आप तीनों को राजकुँवर बुला रहे हैं।"

द्वारपाल का चेहरा ही बता रहा था कि उसे काफी डाँट पड़ी है। उसके चेहरे पर हवाइयाँ उड़ रही थी। महाराज जी ने उससे स्पष्ट रूप से कह दिया – "अब युवराज से मिलने की हमारी इच्छा नहीं है। यदि तुम्हारे युवराज हमें लेने आयें, तो भी हम नहीं जायेंगे। न तो हम कोई अपराधी हैं और न इस राज्य की प्रजा। हम अपनी इच्छा से गये थे और अपनी इच्छा से चले आए। हमारे साथ क्यों व्यर्थ की बातें करते हो? यहाँ से चले जाओ। हमें युवराज से नहीं मिलना है।"

आश्चर्य में डूबा हुआ द्वारपाल वापस चला गया। थोड़ी देर के बाद, एक और व्यक्ति राजमहल के अन्दर से आया और उसने बताया कि कुँवर साहब ने आप सबकी बातें सुन ली थीं, इसलिये उन्होंने द्वारपाल को डाँटकर भेजा था कि उन्हें आदरपूर्वक लेकर आओ, नहीं

तो तुम्हें सजा मिलेगी।"

इसके बाद महाराज जी, देवगिरि, और रामानन्द के साथ ओंकारेश्वर मन्दिर में आ गये और कई दिनों तक रहे।

रे मन! तू सम्राटों के सम्राट, अनन्त ब्रह्माण्डों के स्वामी उस सच्चिदानन्द परब्रह्म से क्यों नहीं मिलना चाहता, जिससे मिलने की इच्छा करने पर कोई रोकने वाला नहीं है और कोई यह भी कहने वाला नहीं है कि महाराज श्री अभी सो रहे हैं, इसलिये नहीं मिल सकते।

परमहंस महाराज श्री राम रतन दास जी के हृदय में सद्गुरु श्री नारायण दास जी की छवि हमेशा विराजमान रहती थी, जिससे वे पल-पल परमधाम के आनन्द में डूबे रहते थे।

वहाँ से पुनः प्रस्थान कर पैदल चलते-चलते वे दरभंगा पहुँचे। वहाँ वे एक आश्रम में ठहरे। वहाँ हर प्रकार की सुविधा थी।

एक दिन रामानन्द के मन में इच्छा हुई कि क्यों न नगर में जाकर भिक्षा माँगी जाए? उसने यह बात महाराज जी से कही। उन्होंने तपाक से उत्तर दिया— "सौ दरवाजों पर भटक-भटक कर माँगने से अच्छा है कि एक ही दरवाजे पर माँगो। वहाँ आनन्दपूर्वक भोजन करो और दक्षिणा भी लो।"

"ऐसा कौन सा दरवाजा है", रामानन्द जी ने पूछा।

महाराज जी ने उत्तर दिया कि ऐसा दरवाजा तो राजा का ही है।

अब तीनों ही व्यक्ति राजा के द्वार पर भिक्षा के लिये

चल दिए। वहाँ जाकर उन्होंने देखा कि सीढ़ियाँ चढ़ने के पश्चात् एक बरामदा आता है, जिसमें राज्य के अधिकारीगण खड़े हैं।

महाराज जी तो अवधूत भेष में रहते थे। न कोई तिलक, न माला, और न भगवे वस्त्र। उनके विपरीत रामानन्द जी तिलक और मालाओं से अपने को सुसज्जित किये रहते थे। महाराज जी ने तीन व्यक्तियों के लिये भिक्षा का उत्तरदायित्व अकेले रामानन्द जी को ही सौंप दिया।

रामानन्द जी भिक्षा माँगने के लिये जैसे ही सीढ़ियों पर चढ़कर ऊपर पहुँचे, तो एक अधिकारी कड़कती हुई आवाज में बोला— "कैसे चले आए? क्या बात है?"

रामानन्द जी धीमे से बोले— "हम भिक्षा लेने के

लिए आये हैं।"

"कैसी भिक्षा? कैसी भिक्षा? यहाँ पर भिक्षा का क्या मतलब है?"

तब तक रामानन्द जी एक टूटे हुए आसन पर बैठ चुके थे। उन्होंने उस अधिकारी के प्रश्नों को अनसुना सा कर दिया, किन्तु वह आवाज महाराज जी के कानों तक जा पहुँची।

उस अधिकारी ने कई बार सिर झुकाकर कहा—  
"चल देते हैं भिक्षा माँगने के लिये। भिक्षा क्या होती है?"

रामानन्द ने तो यह बात सहन कर ली, लेकिन महाराज जी से सहन नहीं हो पायी। वे तेज स्वरों में बोले— "भाई रामानन्द! तुम अन्धे के अन्धे ही रहे। महाराज को क्या पता कि भिक्षा किस चिड़िया को कहते

हैं? महलों में रहने वाले सेवकों से भिक्षा माँगकर तुमने बहुत बड़ी भूल की है। यदि तुम इनसे जाकर झाड़ू माँगते, तो तुरन्त मिल जाती। प्रातः से सन्ध्या तक जब तुम झाड़ू लगाते और गिड़गिड़ाते, तब ये लोग खाने के लिये रोटी का टुकड़ा देते हैं। ये बेचारे क्या जानें कि भिक्षा किसको कहते हैं? तुम्हें पहले ही जाँच कर लेनी चाहिए कि ये काले पत्थर हैं या मोती हैं?"

यह सुनते ही उस अधिकारी की आँखें क्रोध से लाल हो उठीं। उसने अपने सेवकों को आवाज दी – "देखो! ये कौन से लोग हैं? इन्हें धक्का देकर बाहर निकाल दो।"

आदेश पाते ही सिपाही दौड़ पड़े और उन्होंने तीनों को चारों ओर से घेर लिया। इस स्थिति में रामानन्द काँपने लगे कि पता नहीं क्या होगा ? उधर, वह



अधिकारी बार-बार शोर करता रहा- "इन्हें निकालो, इन्हें निकालो।"

अब महाराज जी ने बोलना शुरू किया- "हम तो (परमधाम से) निकले ही हुए हैं, तुम हमें क्या निकालोगे? हम तो (इस संसार में) स्वतः ही घूम-फिर रहे हैं, भला तुम क्या भगाओगे? यदि तुम हमें मार भी डालोगे, तो हम अपनी परआत्म में मिल जायेंगे।"

यह सुनते ही वह अधिकारी गुस्से से फड़फड़ा उठा। उसका क्रोध दोगुना हो गया। उसकी ऐसी स्थिति को देखकर महाराज जी ने कहा- "भाई! चलो यहाँ से। ये क्या हमें बाहर करेंगे, स्वयं ही निकल चलो।"

जिस प्रकार छोटी नदी थोड़े से ही जल से भर जाया करती है, उसी प्रकार दुष्ट व्यक्ति थोड़े से ही धन

को पाकर पागल हो जाता है और अपनी विनम्रता खो देता है। जैसे पर्वत पर वर्षा की बूँदों के आघात से कुछ भी दुष्प्रभाव नहीं होता, वैसे ही दुष्टों के कटु वचनों का सन्तों के ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वे निर्विकार भाव से सब सह लेते हैं।

कुछ पल के पश्चात् महाराज जी ने रामानन्द को आवाज दी— "रामानन्द! चलो, यहाँ से। यहाँ के कण-कण में दुर्गन्ध है। इतनी दुर्दशा कराकर भी यदि तुम्हें भिक्षा लेनी है, तो तुम रुक सकते हो। हम लोग जा रहे हैं। हमें यहाँ की भिक्षा नहीं चाहिए।"

महाराज जी और देवगिरी तो चले आये, किन्तु रामानन्द जी वहीं बैठे रहे। नगर के लोग इस तमाशे को देख रहे थे। महाराज जी एक खाली सी दुकान पर बैठ गये, क्योंकि उन्हें रामानन्द जी की प्रतीक्षा करनी थी।

इस घटना के बाद वहाँ काफी लोग एकत्रित हो गये। उन लोगों में काफी श्रद्धा थी। हाथ जोड़कर कोई कहता कि महात्मा जी, आप मेरे घर चलिए, तो कोई कहता कि मेरे घर चलिए। इस प्रकार सबमें खींच-तान प्रारम्भ हो गयी।

महाराज को किसी के भी यहाँ जाना स्वीकार नहीं था। इसलिए उन्होंने सबको सम्बोधित करते हुए कहा— "आप लोग आपस में मत लड़िए। हम भूखे नहीं हैं, बल्कि इस जग में आकर भूल गये हैं। आप यह मत समझिये कि हम भीख माँगकर खाने वाले हैं।"

कुछ सज्जन पकवान और मिठाई भी लेकर आए। महाराज जी ने पास खड़े कुछ कुत्तों की ओर संकेत करते हुए कहा— "यह भोजन इन्हें दे दीजिए।"

पुनः उन्होंने कहा— "जो भूखे हैं, उन्हें ही खिलाना

चाहिए। हम तो (ब्रह्मानन्द से) छके हुए हैं। छके हुए को छकाने से कोई भी लाभ नहीं है।"

यह कहकर महाराज जी उस दुकान से बाहर आ गये। क्रोधित होने वाला वह अधिकारी यह सारा दृश्य देख रहा था। उसके मन में बार-बार यह विचार आ रहा था कि सत्ता और धन के मद में उसने बहुत बड़ा पाप कर दिया है। घर आये महात्माओं को दुत्कारकर भगाने से बड़ा और कोई दूसरा पाप नहीं है।

वह अधिकारी रामानन्द जी से बोला— "महात्मा जी! पता नहीं, उस समय मेरी बुद्धि कैसे इतनी मलिन हो गयी, जो मैंने इतना बुरा व्यवहार कर दिया। आपके जो साथी महात्मा हैं, उन्हें बुलाकर लाइए।"

"मेरे कहने से तो वे नहीं आयेंगे, किन्तु यदि आप

स्वयं जाकर उनको बुलाने का प्रयास करें, तो शायद आ भी सकते हैं।"

"आप भोजन की जो भी सामग्री ले जाना चाहते हैं, ले जाइए।"

"आप स्वयं ही दे आइए। मुझसे वे नहीं लेंगे।"

"यदि वे सामान नहीं लेंगे, तो एक रुपया ही ले जाइए।"

"कृपया आप कुछ भी न दीजिए। अपने सेवकों को भेजकर, उनको आप ही बुलावाइए।"

उस अधिकारी ने एक सेवक को बुलाकर आदेश दिया— "उन दोनों महात्माओं को बुला लाओ।"

जब वह सिपाही आया, तो उस समय महाराज जी और देवगिरि दुकान पर बैठे हुए थे। सिपाही हाथ

जोड़कर प्रार्थना करने लगा- "हे महात्मा जी! दरभंगा नरेश के उपसामन्त ने आपको बुलाया है।"

महाराज जी ने उत्तर दिया- "क्या हम लोग चोर हैं, जो तुम्हारे सामन्त ने हमें बुलवाया है? क्या हमने किसी को मारा है, जो फाँसी पर चढ़ाने के लिये बुला रहा है? हमें नहीं मालूम कि तुम किस वनमानुष को सामन्त कहते हो? बताओ क्या तुम्हारा सामन्त विधाता है, जो हम वहाँ जाएँ? तुम यहाँ से चले जाओ। किसी भी स्थिति में हम वहाँ नहीं जायेंगे। तुम्हें जो कुछ भी करना हो, कर लो।"

"किन्तु आपके साथी जो महाराज हैं, वे तो वहीं हैं।"

"वह अपना साथी कैसे है? मेरा उससे कोई भी

सम्बन्ध नहीं है। वह अपना कर्त्तव्य कर रहा है और हम अपना कर रहे हैं। कह देना कि सामन्त राजा के बन्धन में होगा, हम नहीं। हम वहाँ कदापि नहीं जा सकते।"

इस प्रकार का उत्तर पाकर सिपाही चुपचाप चला गया। थोड़ी देर में रामानन्द भी आकर मिल गये।

तृष्णाओं के जाल में कण्ठ तक डूबे हुए राजा – महाराजा परमहंसों और विद्वानों की गरिमा का आंकलन नहीं कर पाते। वे नहीं जानते कि ब्रह्ममुनि परमहंसों की चरण-धूलि पाने के लिये देवराज इन्द्र भी तरसते हैं।



## (१६)

महाराज जी ने देवगिरि और रामानन्द जी के साथ दरभंगा से प्रस्थान किया। चलते-चलते, वे वर्द्धमान होते हुए कोलकाता पहुँच गये।

कोलकाता में एक महादेव तालाब है, जिसका जल बहुत स्वच्छ है। उसमें स्नान आदि करने के लिये काफी लोग आया करते हैं।

महाराज जी ने उस तालाब के किनारे अपना आसन लगवा दिया। तालाब में नहाने वालों का तांता लगा रहता था। अध्यात्म में रस लेने वाले लोग धीरे-धीरे महाराज जी के पास आने लगे।

सेठ लक्ष्मी नारायण कोलकाता के एक प्रसिद्ध सेठ थे। उनका हृदय बहुत दयालु और भावुक था। वे



प्रतिदिन उस तालाब में स्नान करने आया करते थे।

संयोगवश, वे महाराज जी के आसन के सामने ही स्नान करते तथा जल में खड़े होकर गीता का पाठ करते। यद्यपि वे आते तो तड़के ही, किन्तु नित्य कर्मों से निपटने तक सूर्य आकाश में चमक रहा होता था।

एक दिन महाराज जी ने उनको अपने पास बुलाया और पूछा— "वह कौन सी पुस्तक है, जिसका पाठ आप जल में खड़े होकर करते हैं?"

"जी! मैं गीता का पाठ करता हूँ। मैंने गंगाजल में खड़े होकर पाठ करने का एक नियम सा बना लिया है।"

"यह तो अच्छी बात है। क्या आपने गीता स्वयं ही पढ़ी है या कभी किसी के मुख से सुनी भी है?"

हाथ जोड़कर सेठ जी बोले— "भगवन! मैंने न तो

किसी के मुख से सुनी है और न सुनने की कोशिश ही की। अपना धर्म समझकर गीता का पाठ कर लिया करता हूँ।"

"जब तक आप किसी तत्त्वदर्शी व्यक्ति से इसके छिपे हुए भेदों को नहीं जानेंगे, तब तक केवल पढ़ने मात्र से ही परम लक्ष्य प्राप्त नहीं होगा। महाभारत का ज्ञान देने वाले श्री कृष्ण कौन हैं तथा बाल लीला करने वाले कौन हैं, इसके भेदों को आप स्वयं पढ़कर नहीं जान सकेंगे। इसके भेदों को मात्र तत्त्वज्ञानी ही जानते हैं। वैसे तो हजारों लोग गीता पढ़ते हैं, लेकिन परमात्मा को जाने बिना खाली हाथ चले जाते हैं।"

इन बातों को सुनकर सेठ जी बहुत प्रभावित हुए और महाराज जी के पास सत्संग के लिए आने लगे। एक दिन सेठ जी ने हाथ जोड़कर महाराज जी से कहा—

"महाराज जी! आप जब तक यहाँ रहेंगे, तब तक अपने साथ के महात्माओं के साथ मेरे ही घर भोजन करेंगे। आप कहीं और भोजन करने के लिये न जाएँ।"

"सेठ जी! साधुओं की गिनती कैसे की जा सकती है। पता नहीं एक क्षण में कितने बढ़ जायें। मकर संक्रान्ति के अवसर पर कपिल मुनि के आश्रम में मेला भरने वाला है, उसके कारण भी संख्या बढ़ सकती है।"

"महाराज जी! चिन्ता की कोई भी बात नहीं है। संख्या चाहे कितनी भी क्यों न हो, सबका भोजन मेरे ही घर होगा।"

अपने धन को परमात्मा का धन मानकर जो लोग मानवता के कल्याण में खर्च करते हैं, उनके धन में हमेशा वृद्धि होती रहती है, किन्तु जो लोग उस धन को

अपना मानकर स्वार्थवश छिपाये रखते हैं या विषय भोगों में खर्च करते हैं, वह नष्ट हो जाता है।

सेठ लक्ष्मी नारायण ने तुरन्त ही लँगर की व्यवस्था कर दी। जैसे-जैसे महात्माओं की संख्या बढ़ती गयी, वैसे-वैसे भोज्य सामग्री की मात्रा भी बढ़ती गयी।

महात्मा लोगों को पता चल गया था कि परमहंस महाराज श्री राम रतन दास जी ने ही लँगर चलवाया है, इसलिये स्वयं को उनका साथी कहकर महात्मा लोग आने लगे।

उस तालाब में प्रायः मारवाड़ी लोग नहाने के लिये आया करते थे। उनमें से माँगीलाल नामक एक व्यापारी भी था, जो वहाँ स्नान करके भजन किया करता था।

एक दिन वह भी महाराज जी के सत्संग में आकर

बैठ गया। कुछ देर तो वह बहुत ध्यान से सत्संग सुनता रहा, किन्तु बाद में उसने बहुत से प्रश्न पूछे जिनका यथोचित उत्तर महाराज जी ने दे दिया।

अपने प्रश्नों का उत्तर पाकर मांगीलाल के हृदय में श्रद्धा बढ़ती गयी। वे नित्य-प्रति चर्चा-सत्संग में आने लगे। महाराज जी ने जब संसार की नश्वरता तथा परमधाम की अखण्डता पर प्रकाश डाला, तो उनके अन्दर वैराग्य प्रकट हुआ और वे सच्चे हृदय से महाराज जी के चरणों में आ गये।

एक दिन....। मांगीलाल जी को वैराग्य का जोश आया और उन्होंने अपनी सोने की अँगूठी उतारकर तालाब में फेंक दी। महाराज जी ने दो गोताखोरों को बुलवाकर कहा कि यदि तुम अँगूठी निकाल दोगे, तो तुम्हें दो रुपये पुरस्कार स्वरूप दिये जायेंगे।

उन गोताखोरों ने थोड़ी ही देर में अँगूठी निकालकर दे दी। उनका पुरस्कार माँगीलाल जी से दिलवाकर अँगूठी उनको वापस सौंप दी और समझाया कि इस प्रकार धन को निरर्थक फेंकने से कोई लाभ नहीं है।

चाहे कोई गृहस्थ हो या विरक्त, धन का अनासक्त भाव से त्यागपूर्वक उपभोग होना चाहिए। धन के प्रति मोह होना यदि अज्ञानता है, तो वैराग्य के नाम पर पानी में फेंकना भी उचित नहीं। वस्तुतः किसी के कल्याण में उसे खर्च कर देना चाहिए।

माँगीलाल का वैराग्य दिन पर दिन बढ़ता ही गया। एक दिन उनकी पत्नी आयी और महाराज जी से अपनी पीड़ा व्यक्त करने लगी— "महाराज जी! यदि इन्हें वैराग्य ही लेना था, तो वृद्धावस्था में लेते, या मेरे से विवाह ही नहीं करते। आपकी संगति में पड़कर ही इनकी ऐसी

स्थिति हो गयी है। आपको इन्हें ठीक करना होगा, तभी मैं जाऊँगी।"

महाराज जी ने समझाया – "तुम चिन्ता न करो। यह घर छोड़कर कहीं नहीं जायेंगे। इन्हें कुछ भी नहीं हुआ है। तुम शान्ति से घर पर रहो।"

माँगीलाल में आये परिवर्तन का अन्य मारवाड़ियों पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। उनमें महाराज जी के प्रति बहुत श्रद्धा पैदा हो गयी। कोलकाता जैसे महानगर में चारों ओर महाराज जी की चर्चा फैल गयी।

कोलकाता में एक बड़े सिद्ध महात्मा रहा करते थे। पहले मारवाड़ी लोग उन्हीं के पास चर्चा-सत्संग के लिये जाया करते थे। अब स्थिति बदल चुकी थी। महाराज जी के पास मारवाड़ी लोगों के आने से उन महात्मा का

सत्संग टूटने लगा था।

महात्मा जी के लिये यह असह्य था। उन्होंने माँगीलाल को बुलाया और डराने-धमकाने की कोशिश की। वे बोले- "माँगीलाल! तुम्हारे कारण ही यहाँ सत्संग में लोगों का आना कम हो गया है। मैं तुम्हें देख लूँगा और तुम्हारे सद्गुरु को भी देखूँगा। उनके पास है क्या? कुछ भी नहीं।"

उस महात्मा को महाराज जी की प्रसिद्धि जरा भी सहन नहीं हुई। वह विरोध का बहाना ढूँढने लगा। उसने सोचा कि मैं शास्त्रार्थ करके हरा दूँगा तथा उसके अस्तित्व को जड़ से समाप्त कर दूँगा।

यह सोचकर वह साधू तमतमाये हुए चेहरे के साथ आया और बिना प्रणाम किये उसने अभद्र प्रश्नों की झड़ी



लगा दी- "तुम किस पन्थ के मानने वाले हो? तुम्हारा गुरु कौन है?"

महाराज श्री ने रामानन्द को संकेत किया कि इन्हें आसन पर बिठाये।

उनके बैठ जाने पर महाराज जी ने उत्तर दिया- "हम आपा पन्थी हैं। हम स्वयं ही गुरु हैं तथा स्वयं ही शिष्य हैं। हम अपने अखण्ड घर (परमधाम) का ज्ञान रखते हैं और वहीं का ध्यान करते हैं। आपको जो प्रश्न पूछना है पूछिए, किन्तु क्रोध न कीजिए।"

उस साधू ने एक अटपटा सा प्रश्न पूछा और बिना प्रसंग बहस करने लगा। महाराज जी ने प्रश्न के अनुकूल उत्तर दे दिया, जिसे सुनकर क्रोध में वह अपना संतुलन खो बैठा और बहुत कटु भाषा में बोलने लगा- "अब मैंने

तुम्हें जान लिया है कि तुम कितने पानी में हो? अब तुम सावधान होकर रहना।"

महाराज जी ने शान्तभाव से उत्तर दिया— "मैं तो यहीं बैठा हूँ। आपको जो कुछ भी करना हो, कर लीजिए।"

तमतमाया हुआ वह बाबा वहाँ से तेज कदमों से ऐसे गया, जैसे कि वह भविष्य में महाराज जी को ही जमीन में गड़वा देगा।

चिता मरे हुए मानव के स्थूल शरीर को ही जलाती है, और चिन्ता जीवित अवस्था में ही घुट-घुट कर जलने के लिये विवश कर देती है। उसका सूक्ष्म तथा कारण शरीर भी इससे व्यथित होता है, किन्तु ईर्ष्या की अग्नि तो उसे बुरी तरह विषाक्त करके व्याकुल कर देती

है, जिसमें उसके स्थूल, सूक्ष्म, तथा कारण शरीर भी दुःख की ज्वाला में जलने लगते हैं। यह अग्नि कई जन्मों तक उसे सन्ताप देती रहती है।

उस बाबा ने जाते ही अपनी तान्त्रिक सिद्धि का जाल माँगीलाल के ऊपर फेंका। रात को माँगीलाल ने एक स्वप्न देखा कि उसके कमरे के दरवाजे पर एक भैंसा खड़ा है, जिसका सिर कटा पड़ा है और सारा फर्श खून से भरा हुआ है।

डर के मारे माँगीलाल की आँखें खुल गयीं। किन्तु यह क्या.....? वह जागने के बाद भी नंगी आँखों से देखता रहा कि दरवाजे में बिना सिर का भैंसा खड़ा है। डर के मारे उसकी घिघी बँध गयी, हलक सूख गया। वह चीख भी नहीं सका कि किसी को बुला सके।

प्रातःकाल जब उसकी पत्नी उसके पास पहुँची, तो वे आश्चर्य से चौंक पड़े। बोला – "तुम यहाँ कैसे आ गयी?"

"क्यों, क्या बात है?"

"दरवाजे में बिना सिर का भैंसा खड़ा है। उसका खून भी फर्श पर फैला हुआ है। क्या तुम्हें दिखायी नहीं पड़ा?"

"नहीं, मैंने तो कुछ भी नहीं देखा। मैं बहुत आसानी से चली आयी हूँ।"

"मैं तो पूरी रात भय से काँपता रहा हूँ। डर के मारे किसी को आवाज भी नहीं लगा सका।"

माँगीलाल के मन का डर दूर करने के लिये उनकी पत्नी दरवाजे तक जाकर खड़ी हो गयी और बोली—

"देख लीजिए, कहीं भी कोई भैंसा नहीं है।"

किन्तु अभी भी उसके मन में भय समाया हुआ था। निदान, पत्नी ने उसका हाथ पकड़कर दिखाया, तब उसे सन्तोष हुआ।

अब तो भागे-भागे माँगीलाल जी महाराज जी के पास आये और सारी बातें कह डालीं।

महाराज जी बोले- "भाई! डरने की कोई बात नहीं है। उसने मेरे ऊपर भी प्रहार करने की पूरी कोशिश की है। उसके लिये जितना सम्भव था, उसने अपनी शक्ति का प्रदर्शन किया। ये लोग तान्त्रिक साधनाओं से भोली-भाली जनता को डराकर अपने वश में किये रहते हैं और माया की तृष्णा पूरी करते रहते हैं। यह मेरा दावा है कि वह बाबा तुम्हारा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता।"

महाराज जी का वरदहस्त पाकर माँगीलाल उस तान्त्रिक बाबा के पास गये और बोले- "रात को तुमने जो करामात दिखायी, क्या उतनी ही तुम्हारे पास है या और कुछ भी है? यदि कुछ बची है, तो आज की रात को दिखा देना। मेरे ऊपर कोई भी असर नहीं होगा।"

उस तान्त्रिक के मुँह से एक भी शब्द नहीं निकल सका। माँगीलाल अपने घर में निडर होकर पूरी रात सोते रहे।

अब उस बाबा के पास एक भी भक्त नहीं रहा। सभी महाराज जी के पास आने लगे। उसके मन की कटुता नहीं जा सकी थी। इसलिये बदला लेने की भावना से उसने एक नागा महात्मा को भड़काया।

एक दिन महाराज जी अपने आसन पर बैठे हुए

चर्चा-सत्संग कर रहे थे। कुछ भक्तजन उनके सामने बैठे हुए थे। इतने में भड़के हुए नागा जी आये और बोले – "तुमने किसकी आज्ञा से यहाँ आसन लगाया है? सभी लोगों को मालूम है कि यह स्थान मेरा है।"

"यहाँ कौन था, जिससे मैं पूछता?"

"अच्छा, तो अब यह आसन उठ जाना चाहिए।"

"यह तो नहीं उठेगा। अपने हाथ से फेंकना हो, तो जब इच्छा हो आ जाइएगा। यदि अभी फेंकना चाहते हैं, तो फेंककर ही जाइए।"

"कल तक यह आसन नहीं मिले, कल तक यह नहीं होना चाहिए", कहते हुए नागा जी चले गये।

किन्तु उसी दिन सूर्यास्त से पूर्व ही वे पुनः आ धमके। आते ही बरस पड़े – "तुमने आसन अभी तक

उठाया नहीं।"

"आइए नागा जी! इस आसन पर पधारिए। इसे अपना ही आसन समझिए", कहते हुए महाराज जी थोड़ा नीचे खिसक गये।

पिघलने के बदले नागा जी और उग्र हो उठे। यह कहते हुए वे चले गये— "कल तक यह आसन यहाँ नहीं होना चाहिए, नहीं तो परिणाम अच्छा नहीं होगा।"

महाराज जी ने भी कह दिया— "यह तो अपने आप नहीं उठेगा।"

उस दिन बहुत भीड़ थी। सत्संग शुरू हुआ। कोलकाता के एक बाबूजी भी सत्संग में आने लगे थे। उस दिन वे बोले— "मुझे रुपयों का एक विचित्र सा रोग लग गया है। यदि आपके पास इलाज हो, तो मुझे ठीक



करने की कृपा कीजिएगा।"

"शारीरिक रोग तो मैंने सुन रखा है, किन्तु रुपयों के रोग के बारे में मैंने पहली बार सुना है। आप अपने रुपयों के रोग के बारे में बताएँ, तभी तो उसका समाधान खोजा जायेगा।"

"महाराज जी! मैं थियेटर देखने जाता हूँ। उसका टिकट पन्द्रह रुपये में मिलता है। खाने में पाँच रुपये खर्च हो जाते हैं। तीन बजे रात तक देखता हूँ, तो केवल दो घण्टे ही सोने के लिये मिल पाते हैं। सारा दिन आँखें झपकती रहती हैं। कोई भी काम करने की इच्छा नहीं होती। बिना थियेटर देखे मन मानता ही नहीं। अब आप ही बताइए कि मैं प्रतिदिन के बीस रुपयों के खर्च से कैसे बचूँ?"

"भाई! कल शाम को सूर्यास्त से पहले ही आ जाना। बिना पैसे का ही स्वांग-तमाशा आपको देखने को मिल जायेगा। आपके रुपये बच जायेंगे, लेकिन शर्त यह है कि आपको प्रतिदिन आना होगा।"

गंगासागर का मेला नजदीक में ही लगा हुआ था, इसलिये साधू-सन्त और भक्तजन शाम को महाराज जी के पास एकत्रित हो जाया करते थे। अभी सन्ध्या काल में सत्संग चल ही रहा था कि वे नागा जी आ गये। उन्हें आया हुआ देखकर महाराज जी ने अपना थोड़ा सा आसन छोड़ दिया और बोले- "नागा जी! इस आसन पर पधारिए।"

"मैं बोलकर गया था कि मेरे आने से पूर्व यह आसन नहीं होना चाहिए, अन्यथा परिणाम अच्छा नहीं होगा।"

"आसन तो अब नहीं उठेगा। मैंने जिन हाथों से इसे बिछाया है, उन्हीं हाथों से इसे उठाऊँगा नहीं। हाँ! यदि आप चाहें, तो इसे स्वयं ही उठाकर फेंक सकते हैं। वैसी स्थिति में मैं यहाँ से चला जाऊँगा।"

बातें करते-करते नागा जी आए और महाराज जी के आसन पर असभ्य तरीके से पसर गए। उनकी इस अभद्रता को देखकर महाराज जी आसन से नीचे सरक गये। अपनी विजय मानकर नागा जी उस आसन पर लेटने की मुद्रा में बैठे रहे। थोड़ी देर के बाद वे पूरे आसन पर ही लेट गये।

महाराज जी ने नागा के कान के पास मुँह करके पूछा— "क्या आप चिलम पीयेंगे?"

"हाँ, हाँ, क्यों नहीं। भरवा दो।"

"बनी हुई चाहिए या सादा?"

"बनी हुई का ही दम लगवा दो।"

महाराज जी ने इत्र लगाकर स्वयं ही चिलम तैयार की और नागा जी के हाथों में पकड़ाकर बोले – "पीजिए, लगाइए दम।"

"नहीं, पहले आप शुरू करें।"

"आप तो साक्षात् शिव हैं। आपसे पहले मैं शुरू करूँ, यह उचित नहीं है। पहले आप प्रेमपूर्वक दम खींचिए।"

नागा जी ने चिलम लेकर दम खींचना शुरू किया। लम्बे-लम्बे दम खींचकर वे मुग्ध हो गये। महाराज जी ने उनकी दाढ़ी में थोड़ा सा इत्र भी लगा दिया, जिससे वे और प्रफुल्लित हो उठे। वे अपनी दाढ़ी पर हाथ फेरकर

कहने लगे- "ओ, हो, हो! आज असली मौज है। आज तो पूरी तरह से छक जाना है। बेचारी दाढ़ी! अब तक यह केवल धूल और राख ही चाटती रही है। इसे असली मस्ती आज मिली है।"

तब तक चिलम ठण्डी हो चुकी थी। महाराज जी ने पूछा- "क्या और पीयेंगे?"

नागा जी बोल पड़े- "वाह, वाह! आज तो मुझे मस्त बना दीजिए। मेरी मौज में थोड़ी भी कसर नहीं रहनी चाहिए।"

पहले की ही तरह से चिलम तैयार करके महाराज जी ने नागा जी को पकड़ा दी। नागा जी बोले- "पहले आप शुरू करें।"

"नागा जी! आप जैसे सामर्थ्यवान् के रहते, मैं

पहले कैसे पी सकता हूँ। इसमें आपका अपमान है। आप हमें शर्मिन्दा न कीजिए। पहले आप कश खींचिए।"

पहली चिलम में ही नागा जी को धरती और आकाश एक नजर आने लगे थे। दूसरी चिलम पीकर तो वे बिल्कुल ही बेसुध से हो गये।

महाराज जी ने उनकी दाढ़ी में थोड़ा सा इत्र और लगा दिया। बस, फिर क्या था? नागा जी मस्ती में बोलने लगे— "ओ, हो, हो! मैं कहाँ हूँ?"

"आप तो अपने अखाड़े में हैं।"

"वाह, वाह! कितना आनन्द है? आज तक मुझे ऐसा आनन्द कभी भी नहीं मिला था। मैं पशुओं की तरह धूल और राख लपेटा करता था। आज की मस्ती का तो कहना ही क्या?"

"ये साधु-सन्यासी यही चाहते हैं कि जैसे भगवान शिव ताण्डव नृत्य किया करते हैं, वैसे ही आप भी करके दिखायें।"

अब नागा जी लगे नाचने। कभी तो वे बैठे-बैठे ही नाचने लगते, तो कभी उछल-उछल कर। कभी पँजों के बल कूदते, तो कभी नितम्बों के बल घसीटने लगते। उनका गाना ऐसा था, जैसे कि कुत्ता रो रहा हो।

नाचते-नाचते वे चबूतरे से नीचे गिर पड़े, किन्तु मस्ती में वहाँ भी नाचते ही रहे। उनका नाच ऐसा था, जो बन्द होने का नाम ही नहीं लेता था। पत्थरों की नोकों से उनका शरीर जगह-जगह पर छिल सा गया था।

नागा जी की दुर्दशा देखकर लोगों ने महाराज जी से

कहा- " महाराज जी! आप इसे ठीक कीजिए, नहीं तो बेचारा पत्थरों से छिल-छिलकर मर जायेगा।"

उनकी प्रार्थना पर महाराज जी ने नागा जी से कहा- "नागा जी! अब आप अपनी शक्ति को रोकिए तथा चबूतरे पर शान्त चित्त से बैठिए।"

यह सुनकर नागा जी चबूतरे के ऊपर चढ़कर आए तथा महाराज जी के आसन से कुछ दूरी पर बैठ गये। महाराज जी ने कहा- "नागा जी! मेरे पास आकर मेरी बराबरी में बैठिए।"

"भगवन! मैं यहीं पर ठीक हूँ। मुझसे बहुत बड़ी भूल हुई है, जो मैं आपकी पहचान नहीं कर सका था। भूलवश ही मैंने आपको तंग किया है। आप बहुत महान हैं। मुझे क्षमा कर दीजिए।"



"अब आप आदेश दें, तो मैं अपना आसन उठाने के लिए तैयार हूँ।"

"आपसे क्षण भर की संगति में मुझे जो आनन्द मिला है, वह अब तक कभी भी नहीं मिला था। आपसे भला मेरी तुलना कैसे हो सकती है? आप तो आप ही हैं, पूर्ण हैं। मैं तो आपके समक्ष बहुत ही नादान हूँ।"

महान व्यक्तित्व की परख क्षमाशीलता और सहनशीलता से ही होती है। सहनशीलता से बढ़कर दूसरा कोई अस्त्र नहीं होता। क्षुद्र व्यक्ति को अन्ततोगत्वा अपने दुष्कर्मों पर पश्चाताप के आँसू बहाने पड़ते हैं, जबकि सहनशील व्यक्ति हिमालय की तरह अपने मस्तक को ऊँचा किए रहता है।

महाराज जी के हृदय कमल में हमेशा ही उनके

सद्गुरु की छवि अंकित रहती थी। उन्हीं की कृपा-दृष्टि से महाराज जी ने नागा जैसे उद्धण्ड व्यक्ति को भी सीधी राह पर लगा दिया और सम्मानपूर्वक अपने आसन पर बैठे भी रहे।

गंगासागर जाने का समय आ गया था। सेठ लक्ष्मी नारायण जी ने आकर महाराज जी से पूछा— "महाराज जी, कितने लोगों के टिकट बनवाने हैं?"

"सेठ जी! मेरे साथ बहुत से लोग हैं। साधू, सन्यासी, वैरागी, और भक्तजन भारी संख्या में हैं। आप टिकटों की चिन्ता मत कीजिए। सभी लोग अपने-अपने टिकट से जायेंगे।"

"स्वामी जी! आप कोई भी चिन्ता मत कीजिए। आप केवल इतना बता दीजिए कि कितने लोगों की

टिकट बनवानी है।"

"जो लोग अपने पैसों से जा सकते हैं, उनको अभी इस जहाज से जाने दो। बाद में देखेंगे।"

सेठ जी इस बात पर नतमस्तक होकर चले गये। काफी लोग उस जहाज पर सवार हुए।

उस जहाज के चले जाने के पश्चात्, सेठ जी पुनः आये और पहले की तरह ही पूछा— "महाराज जी! कितने लोगों की टिकट बनवानी है।"

महाराज जी ने उत्तर दिया— "इस जहाज को भी जाने दो। जितने लोग बच जायेंगे, उनको आप स्वयं गिन लेना।"

इस प्रकार तीन जहाजों को महाराज जी ने गुजर जाने दिया। तीसरे जहाज के जाने से पूर्व भी सेठ जी

आये थे।

साधू लोग बार-बार पूछा करते- "महाराज जी, आप कब चलेंगे?"

महाराज जी का सीधा सा उत्तर होता- "मेरे जाने के बारे में मत पूछा कीजिए। जब मेरा मन बनेगा, तब मैं चल दूँगा।"

इस तरह लगभग सभी महात्मा चले गये, केवल सत्रह व्यक्तियों ने अपने को महाराज जी पर न्योछावर किया हुआ था कि यदि महाराज जी जायेंगे तो हम भी जायेंगे, अन्यथा नहीं।

महाराज जी समझ गये कि ये ही मेरे सच्चे साथी हैं, जो मुझे छोड़कर गंगासागर भी जाने की इच्छा नहीं रखते। उन्होंने लक्ष्मी नारायण जी से कहा- "ये जितने

भी साथी हैं मेरे साथ, उनकी टिकट करवा दीजिए।"

एक टिकट का मूल्य दस रुपये था। सेठ लक्ष्मी नारायण जी ने सबका टिकट कटवाया और आदरपूर्वक गंगासागर ले गये।

गंगासागर में सेठ लक्ष्मी नारायण जी ने क्षेत्र खोल दिया। वह तीन दिन तक चलता रहा। सभी को उसमें आकर भोजन करने की छूट थी। उसका सारा खर्च लक्ष्मी नारायण सेठ ने स्वयं वहन किया।

उस मेले में भी महाराज जी का सत्संग चला। बड़े-बड़े विद्वानों ने उसमें भाग लिया। कठिन से कठिन प्रश्नों का समाधान बहुत सरलता से महाराज जी द्वारा किया गया। आखिर होता भी क्यों नहीं, जब ज्ञान का सागर ही उनके धाम हृदय में विराजमान था, तो प्रश्नों के समाधान

में कठिनाई भला क्यों होती।

सत्संग में होने वाले प्रश्नोत्तर को देखकर, सेठ लक्ष्मी नारायण जी के अन्दर महाराज जी के लिये अटूट विश्वास और श्रद्धा पैदा हो गयी। उनके हृदय में भक्ति की सरिता प्रवाहित होने लगी। तीसरे दिन महाराज जी के साथ वे कोलकाता लौट आये।



## (१७)

कोलकाता में भी आ जाने पर महाराज जी का सत्संग चलता रहा। सत्संगी लोगों की संख्या बढ़ती गयी, जिससे उनकी प्रसिद्धि कोलकाता नगर में चारों ओर फैल गयी।

एक दिन एक ठाकुर भी चर्चा सुनने आये। चर्चा के पश्चात्, वह महाराज जी के पास पहुँचा और हाथ जोड़कर बोला— "महाराज! आप अपने पवित्र चरणों में मुझे रख लीजिए।"

"ठाकुर जी! गृहस्थी व्यक्ति का इसी में कल्याण है कि वह चर्चा सुनकर घर पर ही भजन –भक्ति किया करे।"

वह घण्टों तक गिड़गिड़ाता रहा, लेकिन महाराज

जी ने उसे सन्यास की स्वीकृति नहीं दी।

महाराज जी दोपहर के समय थोड़ी देर के लिये बिस्तर पर लेट जाया करते थे। एक दिन जब वे आराम करके उठे, तो उन्होंने सामने एक ऐसे महात्मा को देखा जो अभी हाल में ही दाढ़ी-मूँछ के बाल मुड़वाकर आया था।

महाराज जी ने परिचय पूछा— "महात्मा जी! आप कहाँ से आये हैं?"

यह सुनते ही वह महात्मा वेशधारी ठाकुर उनके चरणों में लेट गया और बोला — "महाराज जी! मैं तो आपका सेवक वही ठाकुर हूँ।"

महाराज जी उसे देखकर आश्चर्य में पड़ गये और बोले— "जब मैंने तुम्हें मना किया था, तो तुमने सिर क्यों



मुड़वा लिया?"

"मैंने अभी-अभी सिर मुड़वाया है। कृपा करके आप मुझे अपनी शरण में रख लीजिए।"

उधर, ठाकुर की पत्नी को जैसे ही पता चला, वह भागी-भागी आयी और उल्टा-सीधा बकना शुरू कर दिया। थोड़ी ही देर में वहाँ काफी भीड़ एकत्रित हो गयी।

उसकी पत्नी के इस कारनामे को देखकर महाराज जी ने कहा— "मुझे तो तुम्हारे पति की जरा भी आवश्यकता नहीं है। यह भेष तो इसने स्वयं ही धारण कर लिया है। मेरा कार्य किसी को बहकाना नहीं है। इसके रहने से न तो मेरा कोई कार्य सिद्ध होगा और न इसके जाने से कुछ नुकसान होगा। तुम अपने पति को यहाँ से ले जाओ। कृपा करके यहाँ उधम मत मचाओ।"

इसके पश्चात् ठाकुर और उसकी पत्नी में बहुत विवाद हुआ। पत्नी जबरन उसे घर ले गयी, लेकिन सत्संग में आने से नहीं रोक सकी। ठाकुर हमेशा यही बात पूछा करता- "महाराज जी! आप यहाँ से कब जायेंगे?"

किन्तु महाराज जी हमेशा अपने जाने की तिथि छिपा जाते। कुछ दिनों के बाद महाराज जी ने कोलकाता से जाने का निर्णय लिया।

इस बात से चारों तरफ दुःख की लहर फैल गयी। प्रेमी लोगों ने रोकने का बहुतेरा प्रयास किया, लेकिन महाराज जी का निर्णय अटल था।

आखिर में वह घड़ी आ ही गयी, जिसमें सबको महाराज जी से जुदा होना था। सबके नेत्रों से आँसू

छलक रहे थे। मन इतने बोझिल थे कि गले अवरुद्ध थे। स्टेशन पर विदा करने वालों की भीड़ बहुत थी। सबने महाराज जी को फूलों के हारों से लाद दिया।

जैसे ही महाराज जी गाड़ी में बैठने लगे, "ठहरो" की आवाज आयी। सामने देखा, तो ठाकुर की पत्नी भीड़ को चीरती हुई आ रही थी। आते ही उसने बकना शुरू कर दिया – "मेरे ठाकुर को आपने कहाँ छिपा रखा है? उसे मुझे सौंप दीजिए, नहीं तो मैं जाने नहीं दूँगी।"

"तुम इस प्रकार के झूठे आरोप क्यों लगाती फिरती हो? तुम्हारे पति को अपने साथ रखने से मुझे क्या मिलेगा?"

लेकिन उसके ऊपर महाराज जी के कथनों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वह डिब्बे के अन्दर ताँक-झाँक

करने लगी। अचानक उसकी नजर सीट के नीचे छिपे हुए ठाकुर पर पड़ ही गयी।

वह उसका हाथ पकड़कर जोर से खींचने लगी और कहने लगी— "यदि तुम्हें वैरागी ही बनना था, तो मुझसे विवाह क्यों किया?"

यह सुनकर महाराज जी उसके पास गये और बोले— "ठाकुर! यह तुम उल्टी-सीधी हरकतें क्यों करते हो? सीट के नीचे छिपकर तुमने हमें शर्मिन्दा करवा दिया।"

वह हाथ जोड़कर कहने लगा— "महाराज जी! मुझे अपने चरणों से अलग मत कीजिए।"

महाराज जी बोले— "उतर जाओ।"

"मेरे ऊपर तरस खाइए। आपके चरणों में जो कुछ

है, वह इस झूठी दुनिया में नहीं है। हे नाथ! मेरे ऊपर दया करके अपने से अलग मत कीजिए।"

महाराज जी ने ठाकुर को बहुत समझाया, लेकिन वह टस-से-मस न हुआ। उधर, उसकी पत्नी जोर से रोती जा रही थी। ट्रेन के छूटने का समय भी हो गया था, इसलिये महाराज जी ने देवगिरि को संकेत किया कि वह ठाकुर को नीचे उतार दें।

देवगिरि ने उसे डाँटते हुए कहा— "तुम नीचे उतरो, नहीं तो मैं तुम्हें धक्के देकर नीचे उतार दूँगा। पहले तुम अपनी पत्नी से निपटो, तब कुछ कहना।"

यह कहकर देवगिरि ने उसे ट्रेन से जबरन उतार दिया, फिर भी वह बार-बार डिब्बे में घुसने की कोशिश करता था। रो-रोकर कहता था— "स्वामी जी! मुझे

छोड़कर मत जाइए। मेरे ऊपर दया कीजिए।"

महाराज जी ने उसे सान्त्वना देते हुए कहा— "भाई! मैं जल्दी ही आऊँगा। तब तक तुम अपने घर की व्यवस्था किये रहना। उसके बाद मेरे साथ चल देना।"

इतनी देर में गाड़ी धीरे-धीरे चलने लगी। लोगों ने महाराज जी के ऊपर फूलों की वर्षा करते हुए जय-जयकार किया। सबकी आँखें आँसुओं से डबडबायी हुई थीं। बड़ा ही हृदय-विदारक दृश्य था। स्वयं महाराज जी भी इस दृश्य को देखकर रोमाञ्चित हो उठे।

शारीरिक प्रेम नश्वर और अल्पकालिक होता है। आत्मिक प्रेम देश, काल, वर्ग की सीमाओं से परे, अखण्ड, तथा निर्विकार होता है। प्रेम का यही स्वरूप आत्मा को परब्रह्म से जोड़ता है। भारतीय संस्कृति इसी

## प्रेम की पूजा करती है।

कोलकाता से चलकर महाराज जी बिहार में मुजफ्फरपुर आये। उसके पश्चात् एक रात मोतीहारी में रुके। मोतीहारी से सीतामढ़ी होते हुए नेपाल के जनकपुर में पहुँच गये। जनकपुर से रक्सौल होते हुए काठमाण्डू में होने वाले पशुपति नाथ जी के मेले के लिये प्रस्थान कर गए।

कई दिन की यात्रा के पश्चात् महाराज जी देवगिरि और रामानन्द जी के साथ मेले में पहुँचे थे। यहाँ इतनी भीड़ थी कि खड़े होने की भी जगह नहीं थी। महाराज जी भी थककर चूर थे। उन्होंने जगह खोजने के लिये बहुत प्रयास किया, किन्तु सफलता नहीं मिली।

एक साधू ने महाराज जी को ठहरने के लिये ऐसी

जगह बतायी, जहाँ केवल नेपाल के महाराजा ही ठहरते थे। उसने यह कार्य जानबूझकर हँसी के भाव से किया था।

उस जगह को चारों ओर से ऊँची-ऊँची बल्लियों से घेर दिया गया था, जिससे अन्य लोग प्रवेश न कर सकें।

महाराज जी इतने थक चुके थे कि उन्होंने देवगिरि जी को स्पष्ट बता दिया – "भाई! परिणाम कुछ भी हो, हमें तो अब महाराजा वाली जगह पर ही चलना है।"

रामानन्द और देवगिरि के साथ महाराज जी बल्लियाँ उल्लंघन कर राजा के स्थान पर आ गये। थोड़ी ही देर में क्रोध में भरे हुए दो सैनिक दौड़े-दौड़े आए और बोले – "आप यहाँ ठहरना चाहते हैं क्या?"

महाराज जी ने उत्तर दिया – "भाई! हम तो यहाँ पर



थक जाने के कारण ही आराम कर रहे हैं। खड़े-खड़े हमारे घुटने जवाब देने लगे थे, इसलिये मजबूरी में हमें यहाँ बैठना पड़ गया। आप कोई जगह बता दीजिए, तो हम उठने में जरा भी देर नहीं करेंगे।"

यह सुनकर वे दोनों चले गये, लेकिन अभी थोड़ी ही देर हुई थी कि दो अन्य सैनिक आ गये। ये पूर्व के दोनों सैनिकों के अधिकारी प्रतीत हो रहे थे। उन्होंने आते ही प्रश्न किया— "आप यहीं ठहरेंगे क्या?"

"हम यहाँ ठहरे तो हैं नहीं, बल्कि थक जाने के कारण बैठ गये हैं। पशुपति का दरबार देखने की इच्छा से आये हैं। आप कोई बैठने का स्थान बता दीजिए, तो हम अपना दण्ड-कमण्डल उठाकर वहीं चल देंगे।"

यह सुनकर बिना कोई उत्तर दिए वे दोनों चले गये,

किन्तु थोड़ी ही देर में दो बड़े अधिकारी आ गये जो पूर्व के अधिकारियों से भी ऊँचे अधिकारी थे। वे दोनों ही उच्च कोटि की वर्दी में थे। उन्होंने आते ही पूछा – "महाराज जी! क्या आप यहीं ठहरेंगे?"

"मैं पहले दो बार बता चुका हूँ कि थककर चूर हो जाने के कारण ही मुझे यहाँ आना पड़ा। मैं आपकी जगह उठाकर तो नहीं ले जा रहा हूँ। आप कोई भी बैठने योग्य स्थान बता दीजिए, तो हम तुरन्त ही वहाँ जाने के लिये तैयार हैं।"

सिपाहियों की अपेक्षा क्रमशः उनके उच्च अधिकारियों का व्यवहार यही दर्शाता है कि जो व्यक्ति जितना ही महान होता है, उसकी बोली उतनी ही सत्य, मधुर, सभ्य, और शालीन होती है।

"आप कितने साधु हैं?"

"हम कुल तीन हैं।"

"ठीक है, आप तीनों यहीं पर विश्राम कीजिए।"

यह कहकर उन श्रेष्ठ अधिकारियों ने अपने सैनिकों को आदेश दिया कि इन्हें रात्रि में यहीं ठहराना है।

फिर तो अपना-अपना आसन लगा महाराज जी, देवगिरि, और रामानन्द जी आराम करने लगे। उधर, हँसी उड़ाने वाले महात्माओं को इनसे ईर्ष्या भी हुई। उन्होंने प्रार्थना की— "महाराज! हमें भी अपने पास दया करके बुला लीजिए।"

महाराज जी ने जब उन्हें स्वीकृति दे दी, तो अन्य साधु भी धीरे-धीरे वहीं पर जा पहुँचे।

अगले दिन शिवरात्रि पर्व का दिन था। उस दिन

महाराजा और महारानी दोनों ही साधु-महात्माओं को दान दिया करते थे। उस समय नेपाल नरेश का नाम था- शमशेर जंग बहादुर राणा।

महाराजा ने अपने हाथों से साधु-महात्माओं को वस्त्र, कम्बल, बर्तन, रुपयों आदि का दान किया। अन्त में महाराज जी की जब बारी आयी, तो वे भी पहुँचे। महाराजा बोले- "महाराज! आप कहाँ से आये हैं?"

"कोलकाता से इधर आया हूँ। अब मेरठ की ओर जाना है।"

"आपकी जो भी इच्छा हो बताइए, हम आपको वही भेंट करेंगे।"

"मुझे तो केवल आपके दर्शनों की ही इच्छा थी। वह मिल गये। अब मुझे कुछ भी नहीं चाहिए।"

महाराजा ने अपने सेवक को तुरन्त आज्ञा दी कि इन्हें दो रुपये की भेंट दो।

महाराज जी ने उत्तर दिया— "मैं रुपये लेकर क्या करूँगा? मुझे इनकी कोई आवश्यकता नहीं है। बहुत पहले से ही आपके दर्शन की इच्छा थी, वह भी आज पूर्ण हो गयी।"

यह सुनकर महाराजा ने अपने सेवकों को आदेश दिया— "जब तक ये तीनों यहाँ की सीमा के अन्दर हैं, तब तक इनकी सभी सुविधा का ध्यान रखा जाये। इन्हें किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं होना चाहिए।"

यह कहकर महाराजा ने देवगिरि, रामानन्द सहित महाराज जी का नाम रजिस्टर में लिखवा दिया। इसके पश्चात् महाराजा से विदा लेकर महाराज जी चल दिए।

नेपाल की सीमा पार करने के पश्चात् महाराज जी भारत भूमि में प्रवेश किये और पुनः पैदल ही यात्रा प्रारम्भ कर दिए।

परमहंसों का जीवन संसार के सामान्य लोगों से भिन्न होता है। उनकी अटपटी चाल को समझ पाना भी सबके लिये सम्भव नहीं होता। कोई विरला ही भाग्यशाली होता है, जो उनकी आत्मा के अन्दर विराजमान परब्रह्म की छवि को पहचान पाता है और उन पर अपना सर्वस्व न्योछावर करता है। करोड़ों तीर्थों में वास करने तथा किसी मन्त्र के करोड़ों जप से भी कोई उतना पवित्र नहीं हो सकता, जितना किसी ब्रह्ममुनि की सान्निध्यता से होता है।

किन्तु रामानन्द दुर्भाग्यशाली थे। उन्हें परमहंस महाराज श्री राम रतन दास जी के स्वरूप की पहचान

नहीं थी। वे कुछ ऊब से गये थे। उनके मन में अलग हो जाने की इच्छा थी। उसे उन्होंने महाराज जी के सामने प्रकट भी कर दिया।

महाराज जी ने उन्हें सहर्ष अनुमति दे दी और देवगिरि जी के साथ आगे की यात्रा पर चल पड़े।



(१८)

चलते-चलते महाराज जी लखनऊ से पहले एक नदी के किनारे रुके। वहाँ रहकर उन्होंने विश्राम किया।

उस नदी के पास ही एक ग्राम था, जहाँ रहने वाले एक वयोवृद्ध ठाकुर ने आकर महाराज जी से प्रार्थना की- "आप मुझे कुछ समय के लिये अपनी सेवा में रख लीजिए।"

"घर से स्वीकृति लेकर चल सकते हो।"

"ठीक है, मैं अभी घर से अनुमति लेकर आता हूँ।"

यह कहकर वह घर गया तथा शाम को अपनी बगल में बिस्तर लिये हुए आ गया। महाराज जी को प्रातःकाल ट्रेन से जाना था। उसने उस समय तो महाराज जी को बता दिया कि मैं घर से स्वीकृति लेकर आया हूँ।



प्रातःकाल ट्रेन पकड़ने के लिये तीनों सड़क से जा रहे थे। अभी रेलवे स्टेशन थोड़ी ही दूर था कि उस ठाकुर की बुढ़िया पत्नी राह में मिल गयी। वह ठाकुर को देखते ही बरस पड़ी— "अब तो तू महात्मा बन गया। मुझे छोड़कर कहाँ जा रहे हो? तुमने इस बात की जरा भी परवाह नहीं की कि मेरा हाल क्या होगा?"

उन दोनों को लड़ता हुए छोड़कर महाराज जी देवगिरि के साथ स्टेशन पहुँच गये। कुछ देर के पश्चात् ठाकुर भी वहाँ पहुँचा। उसका लड़का समझदार था। उसने महाराज जी से प्रार्थना की— "महाराज जी! आप मेरे पिता जी को समझाइए।"

"तुम्हारे पिता ने मेरे साथ चलने की स्वीकृति माँगी थी। मैंने उनकी वृद्धावस्था को देखकर इस शर्त पर स्वीकृति दी थी कि पहले घर वालों से पूछ आओ। जब

तुम धन कमा रहे हो, तब भी तुम्हारे वृद्ध पिता न तो तीर्थ-यात्रा कर सकें और न भजन कर सकें तो इसे दुर्भाग्य ही कहा जायेगा।"

"महाराज जी! मैं उनके कार्य में बाधा नहीं डाल रहा हूँ। आप मेरी माँ को ही समझाइए।"

महाराज जी ने उस बुढ़िया को समझाते हुए कहा—  
"माता जी! आप इनको जाने देने में बाधाएँ क्यों खड़ी कर रही हैं। अब इस बुढ़ापे की उम्र में इनसे कौन सा काम लेना चाहती हैं।"

"काम तो कुछ भी नहीं है, लेकिन परमात्मा का नाम तो घर पर भी लिया जा सकता है।"

"माता जी! जो लोग तीर्थों में पैदल घूमते हैं, वे पागल तो हैं नहीं। तीर्थों में महात्माओं के दर्शन करने से

पापी भी भक्त बन जाते हैं। इनका और आपका सम्बन्ध गृहस्थ जीवन तक ही था। इन्होंने अपने गृहस्थ जीवन का उत्तरदायित्व भी पूरा कर दिया है। अब ये अपना परलोक सुधारने के लिये यदि जाना चाहते हैं, तो कुछ समय के लिये जाने दो। पुनः ये घर तो आ ही जायेंगे। महात्मा बन जाना इतना सरल नहीं है।"

महाराज जी के इन वचनों से बुढ़िया शान्त हो गयी तथा ठाकुर को पाँच रुपये खर्चे के लिये भी दिये। तत्पश्चात् माँ-बेटे ने महाराज जी को प्रणाम किया और चले गये।

संसार के रिश्ते प्रायः स्वार्थ पर ही टिके होते हैं। बुढ़ापे में भी ये रिश्ते परमात्मा की तरफ जाने में बाधा डालते हैं। विवेकवान पुरुष की शोभा वानप्रस्थ या सन्यास ग्रहण कर ध्यान का अभ्यास करते हुए धर्मोपदेश

देने से होती है, पोते-पोतियों के मोह में पड़ने से नहीं।

महाराज जी ट्रेन द्वारा मेरठ आ गये। वहाँ से वे पैदल ही चल पड़े तथा सूर्यास्त से पूर्व बाड़म नामक गाँव में पहुँचे। वहाँ के लोगों ने उनसे ठहरने का आग्रह किया। उनका आग्रह स्वीकार करके महाराज जी ने अपना आसन डाल लिया। थोड़ी ही देर में वहाँ काफी लोग एकत्रित हो गये।

वे लोग महाराज जी से सट्टे का नम्बर माँगना चाहते थे कि जुए में अधिक से अधिक धन जीत सकें। महाराज जी ने स्पष्ट कर दिया कि मैं नम्बर बताने वाला साधू-फकीर नहीं हूँ।

जब उन मायावी लोगों ने देखा कि हमारा काम नहीं बनने वाला है, तो वे चुपचाप चले गये। किसी ने भी

उनके खान-पान के बारे में पूछना जरूरी नहीं समझा। उस मायानगरी में भला ऐसा कौन था, जो उनके हृदय धाम में स्थित अध्यात्म-सम्पदा को ग्रहण करता।

महाराज जी ने अपना कमण्डल और कम्बली उठायी तथा बाड़म से चल पड़े। अगले गाँव में जाकर ही उन्होंने अपना पड़ाव डाला। वहाँ पूरी रात प्रियतम के ध्यान में बीत गयी।

प्रातः उठकर महाराज जी ने मुजाहिदपुर की राह पकड़ी। उनके साथ देवगिरि महात्मा और वृद्ध ठाकुर भी थे। वहाँ पहुँचकर एक पटवारी के चबूतरे पर जा बैठे। वहाँ से कई लोग गुजर गये, किन्तु किसी ने भी उनका परिचय पूछने का कष्ट नहीं उठाया।

देवगिरि ने महाराज जी से पूछा— "क्या आग जला

दूँ?"

महाराज जी ने स्वीकृति तो दे दी, लेकिन उपले लायें कहाँ से?

अचानक ही उधर से कलीराम नामक एक व्यक्ति गुजर रहा था। महाराज जी ने देवगिरि को संकेत किया कि इस व्यक्ति से कहो। यह सारी व्यवस्था कर देगा।

देवगिरि जी ने उपलों के लिये जैसे ही चर्चा की, कलीराम उन्हें उपलों के ढेर के पास ले गये और टोकरा भरकर ले जाने के लिये कहा, किन्तु देवगिरि जी ने मात्र दो ही उपले उठाये और स्पष्ट कह दिया कि मुझे इससे अधिक की आवश्यकता नहीं है।

वह रात महाराज जी ने वहीं पर गुजार दी। गाँव के लोगों से परिचय न होने के कारण, किसी ने भी भोजन

के लिये आग्रह नहीं किया।

प्रातःकाल गाँव के पास बहने वाली नहर में उन्होंने स्नान किया तथा एक पात्र में प्रसाद रखकर देवगिरि को दिया और बोले— "कल आप जिसके यहाँ से उपले लाये थे, उसके घर में जो भी मिल जाये, उसे दे देना।"

देवगिरि जी कलीराम के घर गये। वहाँ उनकी बहन मिल गयी। उन्होंने उससे कहा— "माता! यह प्रसाद लो।"

"नहीं, हम महात्माओं को खिलाते हैं, उनका दिया हुआ नहीं खाते।"

यह सुनकर देवगिरि वापस लौट पड़े। उन्होंने सारी बात महाराज जी को बता दी कि कलीराम की बहन ने प्रसाद लेने से मना कर दिया है।

रास्ते में एक चौपाल पड़ती थी। वहाँ प्रसन्दी नामक एक युवती भी खड़ी थी। वह अपनी आँखों से यह सारा दृश्य देख रही थी कि किस प्रकार ये महात्मा जी प्रसाद लेकर गये और उसने लेने से इन्कार कर दिया। उसने अपने मन में सोचा कि अकारण ही कोई प्रसाद तो भिजवाता नहीं। इसमें कुछ-न-कुछ रहस्य अवश्य ही छिपा हुआ है।

प्रसन्दी चबूतरे के पास आकर खड़ी हो गयी। वह महाराज जी को पहचानने का प्रयास करने लगी।

उसी समय वहाँ से गाँव के चौधरी जीवन सिंह गुजर रहे थे। उन्होंने प्रसन्दी को खड़े-खड़े देखा, तो पूछ बैठे- "यहाँ कैसे खड़ी हो।"

उसने बताया- "ये महात्मा जी हमारे घर पर प्रसाद



देने गये थे। मैं यही सोच रही हूँ कि कोई अपरिचित महात्मा मेरे घर क्यों प्रसाद भिजवायेगा? कहीं ऐसा तो नहीं है कि ये अपने झण्डू चाचा ही हों।"

अभी प्रसन्दी ने यह बात कही ही थी कि आँख के इशारे से देवगिरि ने स्पष्ट कर दिया कि ये ही हैं।

प्रसन्दी श्रद्धा की साक्षात् प्रतिमा थी। महाराज जी की पहचान होते ही वह खुशी के मारे आँखों में आँसू भरकर रो पड़ी।

महाराज जी का आगमन सुनकर सारा गाँव एकत्रित हो गया। इस मुजाहिदपुर गाँव में महाराज जी की बुआ की ससुराल थी। उनका बचपन यहीं पर बीता था, इसलिये गाँव का प्रत्येक व्यक्ति उनसे बहुत स्नेहपूर्वक मिला।

बुआ के दो बेटे थे— मंगत और रतन। उनसे गहरा भ्रातृत्व स्नेह था। महाराज जी के आने की बात सुनकर वे दोनों ही दौड़ते हुए आये और गले लिपट गये।

उस दिन उनके यहाँ विवाह के मण्डवा (मढा, शगुन) का दिन था। उन्होंने महाराज जी को कहीं और जाने से रोक दिया। भोजन करने के लिये उनकी ओर से विशेष आग्रह था।

भोजन के समय जब वहाँ महाराज जी का आगमन हुआ, तो मंगत के मन में यह बात उठी कि यह झण्डूदत्त तो महात्मा बनकर सभी जातियों के यहाँ का खाता रहा है। इसे यदि चौके में ले जायें, तो सम्भव है कोई पण्डित विरोध में कुछ कह दे।

उसे लग रहा था कि उसने झण्डूदत्त जी को

निमन्त्रण देकर भूल कर दी है। एक लंगोटी वाले बाबा को अपने रिश्तेदारों के सामने कैसे कहेगा कि यह मेरे मामा का लड़का है?

जब महाराज जी भोजन करने के लिये आए, तो कुछ लोगों ने उन्हें चौके में चलने के लिये कहा। इस बात पर महाराज जी बोल पड़े— "भाई! मैं तो लंगोट वाला बाबा हूँ। मेरे अन्दर जाने से तुम्हारा चौका अशुद्ध हो जायेगा। मैं तो वहीं भोजन करूँगा, जहाँ भैंस बाँधी जाती है।"

ये शब्द मंगत के कानों में जा पड़े। उसे बहुत ही पश्चाताप हो रहा था कि मैंने इस तरह का विचार अपने मन में क्यों लिया। लगता है, यह मेरा ममेरा भाई सिद्ध पुरुष हो गया है। इसने मेरे मन की सारी बात जान ली है।

महाराज जी को बहुत कहा गया, किन्तु उन्होंने चौके में जाने से स्पष्ट मना कर दिया और भैंस के बाँधे जाने वाले स्थान पर ही भोजन किया। स्वयं मंगत ने भी बहुत आग्रह किया, किन्तु महाराज जी नहीं गये। यहाँ तक कि बारात में जाना भी उन्होंने अस्वीकार कर दिया।

धर्म के लक्षणों से कोसों दूर रहने वाले कर्मकाण्डियों के लिये जन्मना जाति – पाति और छूतछात ही धर्म होता है। परब्रह्म के ज्ञान और भक्ति से इनका दूर का भी रिश्ता नहीं होता और न किसी ब्रह्ममुनि (जिनके हृदय में स्वयं परब्रह्म विराजमान होते हैं) का ये सम्मान ही करना जानते हैं।

कुछ दिन मुजाहिदपुर में रहकर, महाराज जी अपनी जन्मभूमि जड़ौदा पाण्डा की ओर चल पड़े। जाते समय सबने उनसे यह वायदा लिया कि आप फिर मुजाहिदपुर

अवश्य आयेंगे।

महाराज जी गृह-त्याग करने के लगभग १३ वर्षों के पश्चात् आज अपनी जन्मभूमि में प्रवेश किये थे। इतने दिनों तक उनका समाचार किसी को भी नहीं मिल सका था। उनकी पत्नी सधवा होकर भी विधवा की तरह जीवन व्यतीत कर रही थी।

बेटी जवान हो चुकी थी, लेकिन उसकी शादी कौन करता? संसार के लोग बातें तो बहुत बनाते हैं, किन्तु सहयोग करने के लिये कोई विरला ही तैयार होता है। पत्नी के गहनों भी उतर चुके थे। घर का खर्च किसी तरह चल रहा था।

बुद्ध जब ज्ञान प्राप्त करके अपनी जन्मभूमि लौटे थे, तो उनके हाथ में भिक्षापात्र था। उन्हें भिक्षा माँगते

देखकर महाराज शुद्धोधन भी रो पड़े थे। आज महाराज जी भी अपनी जन्मभूमि आये हैं। उनके पास मात्र कमर में लंगोटी, हाथ में कमण्डल, और कान्धे पर कम्बली है। किसी को भी यह पता नहीं कि इस जर्जर शरीर के अन्दर अनन्त ब्रह्माण्डों के स्वामी प्रियतम प्राणनाथ जी की छवि विराजमान है।

महाराज जी के आने की सूचना सारे गाँव में फैल गयी। लोग भाग-भागकर उनसे मिलने के लिये आने लगे। किसी ने महाराज जी की पत्नी को भी जाकर कह दिया- "अब तुम खुश हो जाओ। तुम्हारे पतिदेव आ गये हैं। निश्चित ही वे अपने साथ बहुत धन लेकर आये हैं। तुम्हारी झोली तो वे भर ही देंगे। तुम जाओ और उनके दर्शन कर आओ।"

इसी प्रकार की व्यंग्यात्मक भाषा महाराज जी के

चचेरे भाई गँगाराम ने भी कही- "अरे, आ गया है, तो क्या करेगा? बेटी की शादी में खिचड़ी बनवाकर सबको खिलवा देगा।"

ये शब्द महाराज जी के कानों में भी पड़ गये थे , लेकिन वे बोले कुछ भी नहीं।

सत्य की राह पर चलने वाला कभी अपनी सत्यता का विज्ञापन नहीं देता। वह स्वयं ही साक्षी स्वरूप होता है। क्या सूर्य को अपने उगे होने का विज्ञापन देना पड़ता है? निन्दा, अपशब्द, और तिरस्कार मिलने पर भी ब्रह्ममुनियों के चेहरे पर कोई विकार नहीं पैदा होता , क्योंकि उनके अन्दर तो सत्, चित्, और आनन्द का सागर लहरा रहा होता है।

महाराज जी की धर्मपत्नी ने सोचा- "शर्म करने से

कोई लाभ नहीं होगा। चलूँ पति के दर्शन तो करूँ।"

जड़ौदा ग्राम के पास जूट में महाराज जी ठहरे हुए थे। वहाँ पर मिलने के लिये जैसे ही उनकी धर्मपत्नी आयी, सभी लोग दूर हो गये। पत्नी ने प्रणाम करने के पश्चात् पूछा— "आप तो कमाने गये थे। बेटी ब्याहने योग्य हो गयी है। मेरे लिये क्या लेकर आये हैं?"

महाराज जी ने उत्तर दिया— "पत्नी के लिये पति ही सर्वस्व होता है। सद्गुरु ने मुझे जो धन दिया है, वह संसार में किसी के भी पास नहीं है। तू माया के धन के लिये चिल्ला रही है। पगली! घर में बैठकर सद्गुरु महाराज का ध्यान कर। तू ब्याह की चिन्ता क्यों कर रही है? जिसका काम है, वह खुद करेगा।"

यह सुनकर पत्नी चुप हो गयी। कुछ क्षणों के पश्चात्



प्रणाम करके घर वापस आ गयी। उसे महाराज जी की बातें समझ में नहीं आयी थीं। गयी तो थी धन माँगने , लेकिन मिला ज्ञान का उपदेश।

भरतसिंह पण्डित ने महाराज जी की धर्मपत्नी से पूछा- "माता जी! आप गयी थीं गुरु महाराज के पास। क्या उन्होंने आपको कुछ धन दिया?"

यह सुनकर पत्नी की आँखें छलछला गयीं। बोलीं- "उनके पास तो ज्ञान के अतिरिक्त एक कौड़ी भी नहीं है। उनका उत्तर है कि जिसके बच्चे हैं, उसको चिन्ता है।"

यह सुनकर भरतसिंह के हृदय में चोट लगी। उन्होंने एकान्त में महाराज जी से मिलने का निर्णय किया। आधी रात के पश्चात् वे महाराज जी से आकर मिले। प्रणाम करने के पश्चात् बोले- "महाराज जी! लड़की की शादी

कैसे हो, इसके बारे में आप कुछ बताइए।"

"जो होना होता है, वह तो हर हालत में होता ही है। जिनका काम है, वे स्वयं करेंगे। लड़की का ब्याह तो होना ही है।"

"तो क्या शादी की चिड्डी दे दी जाये?"

"बिल्कुल दे दो।"

"खर्चे की व्यवस्था कैसे होगी?"

"तुम सब पागल हो! यह काम तो उस परमात्मा का है। वह स्वयं करेंगे। संसार वालों से अपने ही काम नहीं होते, वे दूसरों का क्या करेंगे?"

सांसारिक लोग कुछ कार्यों में सफलता पाने के पश्चात् अहंकार में इतने मग्न हो जाते हैं कि वे स्वयं को कर्ता-धर्ता समझ बैठते हैं। उनका अहंकार हिमालय से

भी ऊँचा हो जाता है। इसके विपरीत ब्रह्ममुनि अपने कार्यों की सफलता का सारा श्रेय प्रियतम परब्रह्म की कृपा को देते हैं।



## (१९)

यह सुनकर भरतसिंह ने महाराज जी के चरणों में प्रणाम किया और अपने घर आ गये। उन्होंने महाराज जी के घर वालों को यह सन्देश भिजवा दिया कि शादी के लिये लड़के वालों को तुरन्त चिट्ठी भेज दो। सारा कार्य सद्गुरु महाराज करेंगे।

महाराज जी के कुल के अग्रणी नकली पण्डित से भी भरतसिंह ने कह दिया कि आप चिट्ठी भेज दीजिए। चार प्रमुख व्यक्तियों ने मिलकर शादी का पत्र भिजवा दिया। यह तय हो गया था कि विवाह की तैयारियाँ की जायें। जो भी खर्च हो, उसका हिसाब रखा जाये। बाद में, गुरुकृपा से अवश्य दे दिया जायेगा।

विवाह की तिथि निश्चित हो गयी थी। उसमें केवल

आठ दिन बाकी थे। भरतसिंह किसी भी सामान के लिये जाते, तो पैसे की ही माँग होती। सबका यही कहना था— "भाई! पैसे का काम तो पैसों से ही होगा, यहाँ केवल बातों से कोई लाभ नहीं।"

अन्त में निराश होकर भरतसिंह महाराज जी के पास पहुँचे और बोले— "महाराज जी! आपके पास जो कुछ थोड़ा भी हो, उसे दे दीजिए, ताकि कुछ काम चले।"

यह सुनकर महाराज जी मौन ही रहे। उन्होंने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। वे अपनी आँखें बन्द किये हुए किसी चिन्तन में लगे रहे।

भरतसिंह भी महाराज जी के नेत्र खुलने की प्रतीक्षा करते रहे। उन्हें ऐसा लगा, जैसे महाराज जी कहीं चले

गये हैं।

महाराज जी ने जैसे ही आँखें खोली, भरतसिंह उधर देखने लगे। उन्हें विश्वास था कि महाराज जी कुछ उत्तर देंगे, किन्तु जब कोई उत्तर नहीं मिला, तो उन्होंने दूसरी बार प्रश्न किया।

"महाराज जी! आप बोलते क्यों नहीं? क्या उलझन है?"

"सुनो भरत सिंह! मैं स्वयं जिस सद्गुरु की शरण में हूँ, वह जानें। मैं तो पैसे को छूता भी नहीं हूँ। कृपया मुझसे पैसे मत माँगा करो। तुम चिन्ता क्यों करते हो? सद्गुरु महाराज स्वयं करेंगे। उनके पास अनन्त आँखें हैं। वे सब कुछ देख रहे हैं।"

ये शब्द जब भरतसिंह के कानों में पहुँचे, तो वे

चिन्ता में डूब गये। आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगी। उन्होंने अपने मन में विचारा कि ये तो अपने सद्गुरु महाराज के ऊपर निर्भर हैं। धन तो इनके पास है नहीं। कुल की इज्जत के लिये तो कुछ करना ही पड़ेगा।

यह सोचकर वे महाराज जी से बोले— "आप अपने सद्गुरु महाराज से कहिए। संसार के काम तो पैसे से ही चलते हैं। मैंने सभी सगे-सम्बन्धियों को देख लिया है, कोई भी सहयोग करने वाला नहीं है। जैसे तीर निकल जाने के बाद उसे रोका नहीं जा सकता, वैसे विवाह की तिथि तय हो जाने के पश्चात् उसमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं है।"

यह कहकर भरतसिंह महाराज जी के चरणों में गिर पड़े और रोने लगे। रोते हुए बोले— "आप ही सद्गुरु महाराज से कहिए। अब स्थिति बिगड़ती जा रही है। मैंने

सारे कुटुम्ब को देख लिया है, कोई भी सहायता के लिये राजी नहीं है।"

जब भरतसिंह आँखों में आँसू भरकर इस प्रकार बोले, तो महाराज जी ने कहा— "भरतसिंह! तू इस तरह की बातें क्यों करता है? जिनकी आँखें हमेशा खुली रहती हैं, कभी बन्द होने का नाम नहीं लेतीं, और जो पल-पल का दृश्य देख रहे हैं, उन्हीं से कहने के लिये तुम मेरे ऊपर दबाव दे रहे हो। क्या तुम यही चाहते हो कि मैं सद्गुरु महाराज से यह कहूँ कि मेरे ऊपर संकट है, इसलिये रुपये दे दीजिए। मैं कभी भी अपने मुख से ऐसा नहीं कहूँगा। तू अब तक के मेरे बेदाग प्रेम को कलंकित करना चाहता है।"

अपनी सांसारिक इच्छाओं की पूर्ति के लिये प्रार्थना करना तो प्रेम का सौदा करना है। जो प्राण की नली से



भी अधिक निकट है, उससे क्या छिपा है जो रो-गाकर बताया जाये? क्या वह परमात्मा कोई साधारण सा इन्सान है, जो प्रार्थना करने पर खुश हो जाता है तथा कार्य में सफलता मिल जाती है, एवं न करने पर उसकी नाराजगी के कारण असफलता हाथ लगती है?

इस बात को सुनकर भरतसिंह को चक्कर आ गया। उसकी समझ में ही नहीं आ रहा था कि आगे क्या करे और क्या बोले? वह रोते हुए पाँव पकड़कर बैठ गया और बोला— "जब तक इस समस्या का समाधान नहीं होगा, तब तक मैं नहीं उठूँगा।"

विवश होकर महाराज जी को कहना ही पड़ा— "तुम इतना क्यों घबराते हो? तुम तो केवल तमाशा देखते जाओ कि सद्गुरु महाराज कैसी – कैसी लीलायें करते हैं?"

भरतसिंह में तो जैसे सुनने और समझने की शक्ति ही समाप्त हो गयी थी। उसने पुनः आग्रह किया – "सद्गुरु महाराज के पास एक पत्र ही लिख दीजिए।"

कुछ देर सोचकर वे बोले – "मैं तो नहीं लिखूँगा। यदि तुम ही लिखकर लाओ, तो मैं उस पर अपना हस्ताक्षर कर दूँगा।"

इस बात से भरत सिंह को संतुष्टि हो गयी। वह घर गये और कागज पर सद्गुरु श्री राज नारायण दास जी को सम्बोधित करके पत्र लिखा। उसमें विवाह के बारे में खुलकर लिखा गया था तथा बड़े प्रेम से सुन्दरसाथ के साथ आने के लिये निमन्त्रण भी था। उसमें यह भी लिखा था कि आप अपने आने की तिथि बता दीजिए, ताकि आपको लेने के लिये ताँगा भिजवाया जा सके।

पत्र को लेकर रात के समय में भरतसिंह महाराज जी के पास पहुँचे। उन्होंने वह पत्र महाराज जी के सामने रख दिया। महाराज जी ने हस्ताक्षर करने के लिये कलम माँगी। भरतसिंह ने कलम पकड़ा दी। महाराज जी ने हस्ताक्षर करके पुनः वह पत्र भरतसिंह को दे दिया और बोले— "इस पत्र को आसन पर रख दो और एक बाल्टी पानी ले आओ।"

भरतसिंह ने आदेश का पालन किया और तुरन्त बाल्टी में पानी भरकर ले आये। अपने सामने पानी की बाल्टी रखवाकर महाराज जी ने आदेश दिया— "चिड्डी को इस डाक में डाल दो, ताकि वह सद्गुरु महाराज के पास पहुँच जाये।"

वह चारों ओर देखने लगे कि महाराज जी किसको डाक कहते हैं?

महाराज जी ने पुनः कहा— "अरे भाई! इस डाक में पत्र डाल।"

यह कहकर महाराज जी ने बाल्टी में रखे हुए पानी की तरफ इशारा किया। तब उन्हें सारी बात समझ में आयी। तब उन्होंने बाल्टी में पत्र डाला।

महाराज जी ने कहा— "इस चिट्ठी में लिखे हुए अक्षरों को धो दो।"

भरतसिंह ने धो दिया।

"तुम्हारी चिट्ठी सद्गुरु महाराज तक पहुँच गयी। परसों तुम्हें उत्तर मिल जायेगा।"

भरतसिंह को यह नाटक जरा भी समझ में नहीं आया। वे बुदबुदाते हुए बाहर निकल गये— "वाह री चिट्ठी, वाह री डाक।"

भरतसिंह इस चिन्ता में डूबे जा रहे थे कि किसी को कैसे बतायें कि चिट्ठी कैसे लिखी गयी और कैसे छोड़ी गयी। यदि किसी से थोड़ा सा भी जिक्र करता हूँ, तो उसकी भी हँसी होगी। वह आश्चर्य कर रहा था कि महाराज जी को तो जरा भी चिन्ता ही नहीं है कि शादी कैसे होगी।

तीसरे दिन दोपहर के समय डाकिया पत्र और सोलह रुपयों का मनीआर्डर लेकर आया। महाराज जी ने उसे बहुत आदर से ग्रहण किया। भरतसिंह को बुलवाकर महाराज जी बोले— "ले भाई! यह चिट्ठी पढ़ ले।"

भरतसिंह ने जब चिट्ठी पढ़ी, तो वे हक्का-बक्का रह गये। उनके द्वारा लिखी हुई सभी बातों का सद्गुरु महाराज की ओर से उत्तर लिखा था—

"आपके द्वारा भेजा हुआ पत्र मुझे प्राप्त हुआ। सभी बातें विदित हुईं। मैं शादी में शामिल नहीं हो सकूँगा , इसके लिये क्षमा चाहता हूँ। सेठ लक्ष्मी चन्द्र जी को मैंने भेज दिया है, वे परसों तक आ जायेंगे। विवाह में जो भी खर्च हो, वह बिना संकोच लक्ष्मी चन्द्र जी को बता देना। सब सुन्दरसाथ को मेरा प्रणाम कह देना।

आपका

राज नारायण दास"

महाराज जी ने मनीआर्डर के सोलह रुपये भरतसिंह को देते हुए कहा— "इन्हें रुपये नहीं समझना। ये सोलह कलायें हैं। सद्गुरु महाराज की कृपा से सब कुछ विधिवत् पूर्ण होगा।"

यह सब कुछ देखकर भरत सिंह महाराज जी के

चरणों में साष्टांग गिर पड़े। उन्हें अब पूर्ण विश्वास हो गया कि सद्गुरु महाराज की कृपा से असम्भव कार्य भी सम्भव हो जायेगा।

इस लीला की जानकारी होते ही सबके हाँसले बुलन्द हो गये। पत्र के कथनानुसार, तीसरे दिन लक्ष्मी चन्द्र जी भी आ पहुँचे। वे अपने साथ विवाह का बहुत सा सामान भी कोलकाता से लेकर आये थे। उन्होंने आकर महाराज जी के चरणों में माथा टेका।

कुछ क्षण के पश्चात् सेठ जी ने पूछा कि विवाह का जो भी सामान आया है या आने वाला है, मुझे उसकी जानकारी दे दी जाये।

महाराज जी ने भरतसिंह को आदेश दिया कि तुम इन्हें नकली पण्डित जी से मिलवा दो।

नकली जी के पास जाने पर सेठ जी ने अपनी बात बतायी। नकली पण्डित बोले- "सेठ जी! आप हमारे अतिथि हैं। सारा सामान शहर से आ जायेगा। आप चिन्ता न करें।"

"सारे खर्च का भुगतान करने की सेवा मेरी होगी", यह कहकर उन्होंने नकली जी के आगे बहुत सा धन रख दिया।

नकली जी बोले- "ठीक है, जो भी सामान आयेगा, उसकी पर्ची आपको दे दी जायेगी।"

बहुत ही धूम-धाम से भव्य विवाह हुआ। यद्यपि विवाह के बड़े-बड़े आयोजन हुआ करते हैं, लेकिन इस तरह के आयोजन बहुत कम ही हुआ करते हैं। आखिरी दिन की रसोई सद्गुरु महाराज की ओर से थी, जिसमें



खिचड़ी में मेवा मिलाकर बारात को खिलाया गया।

सेठ लक्ष्मी चन्द्र जी छोटे-छोटे बच्चों तक के पैर छूते फिर रहे थे। वे उनसे कहते कि तुम तो ब्रज के ग्वाल-बालों की तरह से हो। तुम बहुत ही भाग्यशाली हो कि तुम्हें महाराज जी की जन्म-भूमि में जन्म मिला है। उन्होंने बच्चों में बहुत सी मिठाइयाँ और पैसे भी बाँटे। उनकी दृष्टि में महाराज जी की जन्म-भूमि ब्रजमण्डल की ही तरह थी।

उस विवाह में इतनी मिठाई बन गयी थी कि शादी के बाद जो बची, उससे जूड़ में भण्डारा किया गया। पाँच गाँव के लोगों ने भोजन किया। चर्चा-सत्संग का भी कार्यक्रम चलता रहा।

**यदि परब्रह्म के प्रति अटूट श्रद्धा और विश्वास है, तो**

असम्भव से लगने वाले कार्य भी सम्भव हो जाते हैं,  
किन्तु श्रद्धा और विश्वास की यह अनमोल सम्पदा किसी  
विरले को ही मिलती है।



## (२०)

परमधाम से आयी हुई ब्रह्मसृष्टियों को जाग्रत करने के लिये अक्षरातीत ने दो तनों में प्रत्यक्ष रूप से लीला की है।

पहले तन में वे श्री देवचन्द्र जी के अन्दर विराजमान होकर निजानन्द स्वामी के रूप में जाहिर हुए।

दूसरे तन मिहिरराज जी के अन्दर जब लीला प्रारम्भ हुई, तो सभी ने उन्हें अपने "प्राणवल्लभ प्राणनाथ" के रूप में पहचाना। इसी तन से ब्रह्मवाणी उतरी, जिसकी अमृत-धारा से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को अखण्ड मुक्ति मिलनी है। इस स्वरूप में पाँचों शक्तियों ने एकसाथ लीला की है। परब्रह्म के जोश की शक्ति, आनन्द अंग श्यामा जी, अक्षर ब्रह्म की आत्मा, हुक्म के

रूप में स्वयं धनी की आवेश शक्ति, तथा जाग्रत बुद्धि ने महामति जी के धाम हृदय में एकसाथ लीला की है। ऐसा पहले कभी भी नहीं हुआ था और न भविष्य में होगा।

पूर्ण ब्रह्म ने इस स्वरूप को अपने से भी बड़ी शोभा दे दी क्योंकि परमधाम में भी पाँचों शक्तियाँ एक जगह लीला नहीं करती हैं, किन्तु महामति जी के धाम हृदय में पाँचों ने एकसाथ लीला की है। अब तक असंख्य ब्रह्माण्ड बन गये हैं और भविष्य में भी बनेंगे, किन्तु श्री प्राणनाथ जी की महिमा के बराबर अब तक न तो किसी की महिमा हुई है, न वर्तमान में है, और न भविष्य में होगी।

किन्तु ब्रह्मसृष्टियों को शोभा देने के लिये, श्री प्राणनाथ जी ने अपनी प्रत्यक्ष लीला को छिपा लिया तथा उनके धाम हृदय में विराजमान होकर गुप्त रूप से

लीला करने लगे। श्री लालदास जी से बीतक की रचना करवाने के पश्चात् उन्होंने छत्रसाल जी को पूरी शोभा दी।

गुम्मत जी मन्दिर में झूले के सिंहासन पर जब से महामति जी समाधिस्थ हुए हैं, तभी से ब्रह्ममुनियों द्वारा छठे दिन की जागनी लीला प्रारम्भ हुई है। अभी भी पाँचों शक्तियाँ महामति जी के धाम हृदय में ही विराजमान हैं, किन्तु जिस आत्मा को जागनी की शोभा मिलती है, उसके धाम हृदय में युगल स्वरूप की छवि विराजमान हो जाती है, तथा जोश एवं जाग्रत बुद्धि उसके साथ जुड़ जाते हैं। अक्षर ब्रह्म की शक्ति अन्य किसी भी आत्मा के साथ लीला नहीं करती है।

हिमालय की दुर्गम कन्दराओं में २२६ वर्ष की अवस्था तक एक ब्रह्ममुनि भटकते रहे, जिनका नाम था गोपालमणि जी। उन्हें ध्यान द्वारा श्री निजानन्द स्वामी

का प्रत्यक्ष दर्शन हुआ। उन्हीं के आदेश पर वे वि.सं. १८५६ में २४० वर्ष की अवस्था में पद्मावतीपुरी धाम पहुँचे। लम्बी-लम्बी समाधियाँ लगाने वाले जिन योगिराज गोपालमणि जी को वास्तविक शान्ति प्राप्त नहीं हो सकी थी, उन्हें श्री निजानन्द स्वामी एवं श्री प्राणनाथ जी का दर्शन करते ही परम शान्ति मिल गयी।

श्री प्राणनाथ जी को अपने धाम हृदय में बसाकर परमहंस श्री गोपालमणि जी ने ३०२ वर्ष की अवस्था तक रीवा, काशी, एवं इलाहाबाद के क्षेत्र में जागनी की। परमहंसों की श्रृंखला यहाँ से जोर पकड़ी। परमहंस श्री गोपालमणि जी ने साधू बाबा को जाग्रत किया। उन्होंने श्री कामता दास जी को, और कामता दास जी ने महाराष्ट्र में जाकर श्री राज नारायण दास जी की आत्मा को जाग्रत किया। इन सभी परमहंसों के धाम हृदय में

युगल स्वरूप की छवि विराजमान हुई और धनी ने इनसे जागनी की सेवा ली।

सद्गुरु श्री राज नारायण दास जी के चरणों में आकर परमहंस महाराज श्री राम रतन दास जी ने अध्यात्म की ऐसी सम्पदा प्राप्त कर ली, जिसने उन्हें परमहंस रूपी नक्षत्रों के आकाश में ध्रुव तारे की शोभा दे दी। प्रेम के क्षेत्र में तो वे पूर्णमासी के चन्द्रमा हैं। उनके धाम हृदय में विराजमान होकर अक्षरातीत ने अपनी आत्माओं को जाग्रत किया।

अपनी जन्म-भूमि आने पर भी महाराज जी को अपने सगे-सम्बन्धियों से नाममात्र का भी मोह नहीं था। उनका प्रेम तो मात्र अपने प्रियतम अक्षरातीत और सद्गुरु के प्रति था।

जड़ौदा गाँव के दक्षिण-पश्चिम में जूड़ नामक एक स्थान था। वहाँ वृक्षों के घने जंगल थे। ध्यान-साधना के लिये वह स्थान बहुत उपयुक्त था। वहीं पर शिव जी का एक टूटा-फूटा सा मन्दिर भी था। महाराज जी ने उसी मन्दिर में अपना आसन जमा लिया।

महाराज जी के वहाँ विराजमान होते ही सत्संगी लोगों की संख्या बहुत तेजी से बढ़ने लगी। महाराज जी के प्रेम में इतना सम्मोहन था कि लोग अपने घर जाना भी भूल जाते थे।

वहाँ पर हमेशा ही कथा-कीर्तन का कार्यक्रम चलता रहता था। कभी भी श्रोताओं की संख्या कम नहीं हुई। चर्चा-सत्संग के प्रभाव से बहुत से तमोगुणी स्वभाव के लोग शुद्ध सात्विक बन गये।



कभी-कभी महाराज जी सत्संगियों को मना भी करते थे- "भाई! संसार की दृष्टि में तो मैं बिगड़ा हुआ ही हूँ। मेरी संगति में रहकर तुम भी क्यों बिगड़ना चाहते हो? मेरे पास रखा ही क्या है, जो मेरे पीछे अपना घर-द्वार भूले रहते हो?"

लेकिन उन लोगों के ऊपर महाराज जी के मना करने का कोई भी असर नहीं पड़ा। उनमें महाराज जी के प्रति अटूट निष्ठा बनी ही रही।

जब महाराज जी ने देखा कि इनमें मेरे प्रति सच्ची श्रद्धा है, तो उन्होंने गाँव के लोगों को शिव मन्दिर के जीर्णोद्धार के लिये प्रेरित किया।

गाँव के भोले-भाले लोगों को तो किसी सच्चे प्रेरक की आवश्यकता थी। महाराज जी का इशारा मिलते ही

पाँच गाँव के लोगों ने अपने तन, मन, और धन का सहयोग दिया। देखते-ही-देखते उस पुराने मन्दिर का कायाकल्प हो गया।

जिस घास को बकरी भी आसानी से चर जाया करती है, उसी की रस्सी बना देने पर मतवाले हाथी को भी बाँधा जा सकता है। निश्चित रूप से संगठन में महान शक्ति छिपी होती है, किन्तु यदि संगठन का उद्देश्य मानवता के कल्याण की ओर होता है तो उस पर परब्रह्म की विशेष कृपा बरसती है तथा उसकी शक्ति भी कई गुना बढ़ जाती हैं।

महाराज जी का यह स्वभाव ही था, "पहले सबको खिलाकर बाद में खाना।" उनके प्रेम की डोर से बन्धे हुए पचासों व्यक्ति वहीं पर स्थायी रूप से रहा करते।

महाराज जी ने अपनी कठोर साधना द्वारा निद्रा पर विजय प्राप्त कर ली थी। जब भी भजन-कीर्तन होता, वे हमेशा बैठे ही रहते। किन्तु उनकी देखा-देखी, कई अन्य भक्तों ने भी जबरन बैठने की कोशिश की। परिणाम यह हुआ कि कोई चलते-चलते झपकी लेने लगता, तो कोई बैठे-बैठे। कोई-कोई तो देह क्रिया के समय भी नींद से जूझते रहते।

उचित नींद अनिवार्य है। बहुत सोना या बहुत जागना दोनों ही साधना और स्वास्थ्य की दृष्टि से वर्जित है। महापुरुषों की नकल उतनी ही करनी चाहिए, जो उनके लिये कल्याणकारी हो। सामान्य व्यक्ति में परमहंसों जैसा न तो आत्मिक बल होता है और न साधना का अभ्यास। ऐसी स्थिति में उनकी प्रत्येक लीला की नकल करना स्वयं को संकट में डालना है।

जब इस तरह की बातें होने लगीं कि महाराज जी की संगति से ही इन लोगों का भी नाश हो रहा है, तो महाराज जी ने सोने का नाटक करना शुरू कर दिया। वे अपनी आँखें बन्द करके लेटे-लेटे ध्यानमग्न हो जाते।

उन्हें ऐसा करते देखकर लोग भी लेटकर सोने लगे। लेकिन वे कहीं दूर सोने नहीं जाते, बल्कि महाराज जी के पास ही उन्हें सोने में आनन्द आता।

उस मन्दिर में पहले से जो पुजारी रहा करता था, उसे महाराज जी की लोकप्रियता सहन नहीं हो पायी क्योंकि महाराज जी के वहाँ रहने से उसकी महत्ता समाप्त हो गयी थी।

ईर्ष्या की अग्नि में जलने वाला मनुष्य स्वयं को ही जलाता है। वह अपने प्रतिद्वन्द्वी की उतनी हानि नहीं कर

पाता, जितनी स्वयं की करता है। यदि प्रतिद्वन्द्वी सजग रहता है और उस पर परब्रह्म की कृपा रहती है तो उसका तो बाल बांका भी नहीं होता, किन्तु ईर्ष्यालु व्यक्ति शारीरिक, मानसिक, और आत्मिक तीनों दृष्टि से केवल अपनी ही हानि उठाता है।



## (२१)

उस समय महाराज जी आसपास के पाँच गाँवों में प्रतिदिन जाया करते थे। बहुत श्रद्धा भाव रखने वालों के यहाँ थोड़ी देर ठहरते, पुनः अपने निवास पर आ जाते।

बारू भगत शेरपुर का रहने वाला था। स्वभाव से वह बहुत बोला करता था। श्रद्धा भावना से रहित होकर वह अहंकार के घोड़े पर सवार रहा करता था। कभी-कभी वह महाराज जी से भी घण्टों बहस करता रहता। एक दिन आकर वह महाराज जी से बोला— "महाराज जी! मेरी इच्छा है कि कल आप मेरे घर चलकर भोजन कीजिए। मेरी माँ की तेरहवीं का भोज है।"

"भाई! तुम्हारा निमन्त्रण स्वीकार है, किन्तु मैं मृतक-भोज में भाग नहीं लेता। मैंने तो अब किसी के

निमन्त्रण पर घर जाकर भोजन करना भी बन्द कर दिया है, इसके लिये क्षमा करना। जो जा सकता है, उसे ले जाओ।"

"आप कैसे नहीं जायेंगे? आपको तो घर ले जाकर ही छोड़ूँगा। मैं आपके प्रण को अवश्य तोड़ूँगा।"

यह कहकर वह चला गया।

मायावी जीव अपने क्षणिक यौवन, धन, और जाति के नशे में इतने उन्मादग्रस्त हो जाते हैं कि वे ब्रह्ममुनियों से वार्ता करते समय सामान्य शिष्टाचार का भी पालन नहीं करते। वे यह भूल जाते हैं कि जिस नारायण की कृपा से उनके पास यौवन, धन, आयु, और बुद्धि है, वे नारायण स्वयं भी ब्रह्मसृष्टियों की चरण-रज के इच्छुक रहते हैं।

अगले दिन भोजन के समय बारूसिंह आ गया। महाराज जी ने उसे आता देखकर जड़ौदा की ओर प्रस्थान कर दिया। वे उसके सामने से ही निकले, किन्तु उसे दिखायी नहीं पड़े।

इधर, बारूसिंह जब महाराज जी के आसन के निकट पहुँचा, तो उसे खाली देखकर क्रोध में भनभना गया। बोला— "कहाँ चले गये?"

लोगों ने संकेत किया— "अभी तो जड़ौदा की ओर तुम्हारे सामने ही निकले हैं।"

महाराज जी जड़ौदा में भरतसिंह के यहाँ थोड़ी देर ठहरे रहे। कुछ देर के बाद जब देखा कि बारूसिंह आ पहुँचा, तो वहाँ से उठकर वे बढ़ई के घर जा पहुँचे?"

बारूसिंह ने भरतसिंह के घर पर महाराज जी को



ढूँढना शुरू किया, किन्तु जब नहीं पाया तो हारकर बोला— "क्या महाराज जी इधर आये थे?"

भरतसिंह ने उत्तर दिया— "तुम्हारे आने पर ही तो महाराज जी अपने आसन से उठे थे। क्या तुमने उन्हें देखा नहीं? अब तो वे बढ़ई के घर पर होंगे?"

अब तेज कदमों से चलकर बारुसिंह बढ़ई के घर पहुँचा। महाराज जी ने उठकर मामराज के घर की ओर प्रस्थान किया।

बढ़ई के घर जाकर उसने महाराज जी के बारे में पूछा। लोगों ने उत्तर दिया— "जब तुम दरवाजे पर थे, तभी तुम्हारे सामने ही तो वे उठे थे। क्या तुमने उन्हें देखा नहीं?"

बारुसिंह को उनकी बातों पर विश्वास नहीं हुआ।

उसने उस मकान में घुसकर चारों ओर खोजा, लेकिन कहीं भी पता न चला।

मजबूर होकर बारुसिंह मामराज के यहाँ पहुँचा। उसने वहाँ भी जाकर पूछा— "महाराज जी यहाँ आये हैं क्या?"

मामराज ने उत्तर दिया— "उधर देख! वे सामने से जा रहे हैं। अन्धे हो क्या, जो तुम्हें दिखायी नहीं पड़ रहे?"

किन्तु बारुसिंह को महाराज जी दिखायी नहीं पड़े। वे मामराज को तो दिखते थे, किन्तु बारुसिंह को नहीं।

बारुसिंह चिढ़कर बोला— "मैं तो तुम्हारे ही घर में तलाश करूँगा।"

मामराज ने कहा— "तलाशी तो तुम्हें तब लेनी

चाहिए, जब वे दिखायी न देते हों। जब वे प्रत्यक्ष सामने से घिसरपड़ी की ओर जाते हुए दिख रहे हैं, तो तुम उल्टी बातें क्यों बकते हो।"

बारूसिंह ने मुड़कर देखा भी, लेकिन महाराज जी उस जैसे अहंकारी को भला कहाँ दिखने वाले थे। थक-हारकर बारूसिंह ने मामराज के घर का चप्पा-चप्पा छान मारा, लेकिन कहीं भी वह पा न सका। यदि वे वहाँ होते, तब तो मिलते।

मामराज जी बोले- "ढूँढ लिया क्या? क्या तुम्हारी आँखें फूट गयी हैं, जो दिखायी नहीं देते? तुम मेरी बात सुनते ही नहीं हो। यद्यपि वे घिसरपड़ी की राह में दूर हैं, फिर भी यहाँ से दिखायी पड़ रहे हैं। यदि तू अभी तेज कदमों से चलेगा, तो घिसरपड़ी तक पहुँचने से पहले ही महाराज जी से तुम्हारी भेंट हो जायेगी।"

जब निराकार तक की साधना करने वाले योगीजन दृष्टिबन्ध कर देते हैं, अर्थात् सामने रहने पर भी नहीं दिखायी पड़ते, तो महाराज श्री राम रतन दास जी के अन्दर परब्रह्म की छवि विराजमान थी। अन्तर्धान होना या दृष्टिबन्ध करना उनके लिये बच्चों के खेल जैसा था।

यह बात सुनकर बारूसिंह बहुत ही तेज कदमों से चला। वह वहाँ पहुँच गया, जहाँ महाराज जी बैठे थे। वहाँ से महाराज जी शेरपुर की ओर निकल पड़े।

बारूसिंह वहाँ पर एक-एक व्यक्ति से मिला। उनसे पूछता फिरा कि क्या आपने महाराज जी को देखा है? स्वयं तांक-झांककर खोजता भी फिरा, लेकिन खाली हाथ ही रहना पड़ा। अन्त में निराश मन से वह शेरपुर की ओर चल पड़ा।

शेरपुर में महाराज जी थोड़ी देर तक बारूसिंह के घर रुके रहे। पुनः वहाँ से चलकर जयपुर गाँव होते हुए जूड़ में अपने निवास पर पहुँच गये।

उधर, जब बारू अपने घर पहुँचा तो घर वाले बोले— "तुम कहाँ घूमते-फिरते हो? महाराज जी यहाँ आकर चले गये। हम लोगों ने उन्हें रोकने की बहुत कोशिश की, लेकिन वे रुके नहीं। यही बात कहते रहे कि यदि बारू होता, तो रुक भी जाता।"

बारूसिंह ने घर वालों से महाराज जी के बारे में पूछा और फिर खोजने चल पड़ा। जयपुर गाँव में खोजते हुए वह जूड़ में पहुँचा, जहाँ महाराज जी को अपने आसन पर बैठे हुए देखा।

अब उसका अहंकार चूर-चूर हो चुका था।

अन्तरात्मा धिक्कार रही थी....."बारुसिंह! तूने अहंकार में महाराज जी को अपने अधीन माना। तू उन्हें जबरन ले जाना चाहता था। तेरे सामने से वे गुजरते थे। क्या तुम्हारी आँखें फूट गयी थीं, जो तुम देख नहीं पाते थे? कहाँ गयी तुम्हारी शक्ति, जो तेज चलकर भी तुम उन्हें पकड़ नहीं पाये। क्या तुम्हारे इस पाप का कोई प्रायश्चित भी है? यदि तू अपना कल्याण चाहता है तो सद्गुरु महाराज के शरीर को मत देख, उनके अन्दर बैठी हुई शक्ति को देख। उनके चरण पकड़कर अपने पापों के लिये क्षमा माँग.....क्षमा माँग।"

दूर से ही उसने मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और बोला— "आपको पाना सरल नहीं है। यदि आपकी कृपा न हो, तो कोई लाख बार अपना सिर पटके तो भी आपको नहीं पा सकता।"

यह कहकर बारुसिंह चरणों में गिर पड़ा और उनके चरणों को पकड़कर क्षमा माँगने लगा – "महाराज जी! मुझसे बहुत बड़ी भूल हुई, जो आपको पहचान नहीं पाया। अब कृपा करके मेरे घर चलिये और उसे पवित्र कीजिए।"

महाराज जी ने उत्तर दिया – "मैं तो तुम्हारे घर गया था, किन्तु तुम थे ही नहीं। इसलिये मैं चला आया।"

बारुसिंह बहुत आग्रह करता रहा, लेकिन महाराज जी नहीं गये। अन्त में उसे अकेले ही वापस जाना पड़ा।

कहावत कही जाती है कि बेर और केले की संगति निभ नहीं सकती। केले को तो अपनी मस्ती में झूमना है, और बेर का काम है अपने नुकीले काँटों को केले के कोमल अंगों में चुभोना।

महाराज जी तो संसार से बेखबर होकर अपने प्रियतम की मस्ती में थे, किन्तु वह कर्मकाण्डी पुजारी कभी भी विषवमन करने से नहीं चूकता। उसे भजन – कीर्तन और चर्चा हुड़दंग के समान लगती। सत्संगी उसे मुश्किलें लगते। जड़ की पूजा करने वाला बेचारा वह कर्मकाण्डी आध्यात्मिकता के रस को क्या जान सकता था?

छल और प्रपञ्च के जाल रचकर तथा झूठे गवाहों की फौज बनाकर, किसी भी अलौकिक महापुरुष के ऊपर चरित्रहीनता का कीचड़ उछालना तो जगत् का ब्रह्मास्त्र है।

गौतम बुद्ध और ऋषि दयानन्द के साथ अतीत में ऐसा हो चुका था। महाराज जी को भी भला यह जगत् क्यों छोड़ता? ईर्ष्या के दावानल में जलने वाला पुजारी



तो कभी से इस ब्रह्मास्त्र को छोड़ने के लिये व्याकुल हो रहा था।

उस दुष्ट पुजारी के बहकावे में आने वाले लोगों की संख्या बढ़ती गयी। अपने कहलाने वाले लोग भी उनसे जा मिले। सबने मिलकर पंचायत द्वारा महाराज जी को वहाँ से हटाने की इच्छा की।

महाराज जी के निकटस्थ भक्त मामराज सिंह ने मना किया कि आप पंचायत में मत जाइएगा। मैं सबको देख लूँगा। लेकिन महाराज जी क्यों रुकते? क्या सूर्य कभी अन्धकार से डर सकता है? क्या केशरी सिंह गीदड़ों के डर से अपनी गुफा में छिपा रह सकता है? सत्य के आगे भला झूठ की सेना कहाँ ठहर सकती है?

पाँचों गाँव की पंचायत में जब महाराज जी पहुँचे,

तो सन्नाटा छा गया। किसी में भी कुछ बोलने की हिम्मत नहीं हुई। अन्त में, गोवध का मामला उठाकर पंचायत ने अपना विषय ही बदल डाला।

सद्गुरु महाराज श्री राज नारायण दास जी की कृपा से पंचायत कुछ भी नहीं कर सकी। पुजारी के सारे हथकण्डे व्यर्थ हो गये, किन्तु महाराज जी ने उन आपराधिक प्रवृत्ति के लोगों के बीच रहना अच्छा नहीं माना और सद्गुरु की प्रेरणा से वे जूड़ छोड़कर शेरपुर गाँव के बाहर बाग में आ गये। वहाँ ही उन्होंने अपना आसन जमाया।



## (२२)

शेरपुर के जिस बाग में महाराज जी ने अपना डेरा डाला, वह इतना भयानक था कि सामान्य व्यक्ति वहाँ ठहर ही नहीं सकता था। ऐसा लगता था जैसे वहाँ भूतों का ही निवास हो। चारों ओर घने झाड़ और साँपों के निवास थे। पशु-पक्षियों की हड्डियाँ भी बिखरी पड़ी थीं।

महाराज जी जैसे ही बाग में आकर बैठे, वैसे ही तुरन्त भयानक आँधी आ गयी। काली घटायें घिर आयीं तथा मूसलाधार वर्षा होने लगी।

गाँव के दो आदमियों ने महाराज जी को जब वर्षा में भीगते हुए देखा, तो वे दौड़े-दौड़े उनके पास आये और बोले— "महाराज जी! आपको भीगते हुए देखकर हमसे सहा नहीं जा रहा है। यह शेरपुर गाँव भी आपका ही है।

आप वहाँ चलकर रहने का कष्ट करें।"

"भाई! मेरा आसन जब पड़ गया, तो अब यह नहीं उठेगा, चाहे कितने ही कष्ट क्यों न हों?"

उन दोनों भाइयों ने बहुत आग्रह किया , किन्तु महाराज जी नहीं गये।

दो दिन के पश्चात्, उन दोनों भाइयों ने थोड़ी सी जगह साफ करके लकड़ियों और फूस की एक कुटिया बना दी, ताकि धूप, शीत, और वर्षा से रक्षा की जा सके।

पाँच-सात दिन में तो वहाँ का सारा दृश्य ही बदल गया। शेरपुर से काफी संख्या में लोग आने लगे। जहाँ प्रेम-भाव मिलता है, वहाँ जनता की भीड़ स्वयं ही खिंची चली आती है।

महाराज जी के पास एक बाँसुरी भी थी। जब उन्हें कभी मौज आती, तो आधी रात को उसकी मनमोहक तान छेड़ देते और पाँचों गाँवों में उसकी सुरीली आवाज पहुँच जाती। उस आवाज को सुनकर महाराज जी के प्रति प्रेम भाव रखने वाले लोग अपना सब कुछ छोड़कर उस झोपड़ी में पहुँच जाते।

संगमरमर की चमकती हुई दीवारों और सोने के थम्भों वाले मन्दिरों से संसार का कोई कल्याण होने वाला नहीं है। यदि ज्ञान और प्रेम की गङ्गा-यमुना किसी घास-फूस की झोपड़ी से प्रवाहित होती है, तो जन-समुदाय मधुमक्खी की तरह भाग-भागकर वहाँ जाता है। ज्ञान और प्रेम से रहित मठ और मन्दिर हमेशा ही सुनसान बने रहते हैं। वहाँ वही लोग रहते हैं, जिनका आध्यात्मिकता से कोई भी सम्बन्ध नहीं होता।

शेरपुर में जूड़ की अपेक्षा दोगुना आनन्द आने लगा था। कई बार धार्मिक विषयों पर बड़े-बड़े संवाद हुआ करते। महाराज जी को उन सबकी शंकाओं का समाधान करना पड़ता।

जड़ौदा से एक पटवारी भी चर्चा-सत्संग में आया करता। उसे ज्ञान चर्चा में कोई विशेष रुचि तो नहीं थी, चमत्कार देखने की इच्छा अवश्य थी। कभी-कभी वह व्यंग्य भी करता कि आप कैसे बाबा जी हैं, जो चमत्कार नहीं दिखा सकते।

महाराज जी के धाम हृदय में विराजमान सद्गुरु रूप में धनी का जोश ही चर्चा करता था। उस अमृत-वाणी से कोई-कोई ही पूरी तरह लाभ उठा पाता। चमत्कार की लीला भी तो धाम धनी श्री राज जी की इच्छा के अनुसार ही होनी थी।

शेरपुर के पास ही एक पाण्डव तालाब है। ऐसी मान्यता है कि महाभारत के युद्ध में पाण्डवों के शिविर में जल की पूर्ति इसी तालाब से हुआ करती थी।

उस तालाब में पक्षियों की भरमार थी। गाँव के लोग वहाँ किसी को भी शिकार नहीं करने देते थे, जिससे पक्षीगण वहाँ निर्द्वन्द्व होकर विचरण किया करते थे।

एक बार, कुछ अंग्रेज अधिकारी पाण्डव तालाब पर शिकार खेलने आ गये। वहाँ उन्होंने कुछ पक्षियों को मार गिराया। अंग्रेजों को शिकार खेलते देखकर गाँव के लोग घबरा गये और महाराज जी के पास आये और बोले— "आप ही निर्णय कीजिए कि अब हमें क्या करना है?"

महाराज जी ने सबसे बातचीत की और गाँव वालों को कह दिया— "तालाब के पास शिकार न खेलने का

बोर्ड लगा दो। उसके पश्चात् उनको मना करो। ऐसा करते समय डरना नहीं। आपके साथ पाँच गाँवों की जनता है।"

गाँव के लोगों ने लकड़ी की एक तख्ती को बाँस के डण्डे के साथ जोड़ डाला और उस पर कठोर शब्दों में लिख दिया— "यहाँ शिकार खेलना मना है।"

उस सूचना-पट को तालाब के किनारे गाड़ दिया गया। गाँव के लोग तो अनपढ़ थे ही, उनकी भाषा भला अंग्रेज कहाँ समझ सकते थे? उन्होंने अपनी भाषा में जाकर अंग्रेजों को मना करना चाहा।

अंग्रेज अधिकारियों के हाथों में बन्दूकें थी। देश भी उन्हीं के अधीन था। ऐसी स्थिति में वे किसी की बात क्यों मानते? गाँव वालों की भावनाओं को भी वे समझ



नहीं पा रहे थे क्योंकि हिन्दी भाषा से वे अनभिज्ञ थे।

गाँव वालों के रोकने पर भी जब अंग्रेज नहीं माने, तो गाँव वालों का धार्मिक जोश जाग्रत हो गया। उन्होंने एकसाथ मिलकर अंग्रेजों पर हल्ला बोल दिया और उनकी बन्दूकें छीन लीं। जब अंग्रेजों पर लातों और घूसों की मार पड़ने लगी, तो वे जान बचाकर अपनी-अपनी मोटरों में भाग गये।

यह सारी घटना आनन-फानन में हो गयी। किसी के भी मन में यह बात थी ही नहीं कि मामला यहाँ तक बढ़ जायेगा।

इस घटना के पश्चात् सभी लोग महाराज जी के पास आये। सभी लोग घबराए हुए थे और उनके चेहरे उतरे हुए थे। सबने महाराज जी से पूछा— "अब क्या होगा?"

उस समय तो हमने मारपीट कर ली, लेकिन लगता है अब परिणाम अच्छा नहीं होगा। अपनी जान बचाने के लिये हम कहाँ जाएँ? क्या गाँव छोड़कर चले जाएँ या यहीं रहें?"

महाराज जी ने उत्तर दिया— "तुम डरते क्यों हो? जो कुछ होगा, देखा जायेगा। जो कुछ भी कर दिया, उससे डरने में कोई लाभ नहीं है।"

गाँव के लोग फौज की बातें सुनकर बहुत डर गये थे। काफी लोग डरकर इधर—उधर भाग गये।

पाण्डव तालाब के झगड़े की बात बिजली की तरह चारों ओर फैल गयी थी। जो भी सुनता, वह काँप जाता। अंग्रेजों से टक्कर लेने का अर्थ था, पाँचों गाँवों का बन्धन में बँधना।

अगले दिन प्रातःकाल सारी बस्ती बन्दूकों के साये में थी। जिधर देखो, उधर पुलिस तथा सेना के जवान बन्दूकें लिये हुए दिखाई देते। जो भी सामने आता, चाहे वह बच्चा हो या बड़ा, गिरफ्तार कर लिया जाता।

वहाँ का समाचार जानकर आसपास के सभी गाँवों के लोग भय से काँप उठे थे। लोग घर छोड़कर भागने लगे थे। खोजने पर भी पुरुषों का दिखायी पड़ना कठिन था।

जब गाँव के लोगों को कैद करके गाड़ियों में भरकर ले जाया जाने लगा, तो चारों ओर कोहराम मच गया। महिलायें रो-रोकर बेहोश होने लगीं। जिस समय लोग जेल जाने लगे थे, उस समय सभी के मन में यह इच्छा थी कि यदि हमें इस समय सद्गुरु महाराज जी का दर्शन मिल जाता तो हमें बहुत सन्तोष होता।

जैसे ही सब लोग जेल के मुख्य द्वार पर पहुँचे, वहाँ सद्गुरु महाराज श्री राम रतन दास जी का साक्षात् स्वरूप प्रकट हो गया। उन्होंने सबको सान्त्वना देते हुए कहा— "धर्म के कार्य में कभी भी डरना नहीं चाहिए। मैं तो हमेशा तुम्हारे साथ हूँ। धैर्य बनाए रखो। धीरे-धीरे सब कुछ ठीक हो जायेगा।"

महाराज जी का दर्शन पाते ही सभी आह्लादित हो उठे। अब उन्हें किसी प्रकार की कोई चिन्ता नहीं थी। वे खुशी-खुशी जेल में गये और वहाँ डण्डे भी खाये।

कुछ दिनों के पश्चात् जमानत पर छूटकर सभी लोग आ गये। सरकार की नजर में जड़ौदा ग्राम "विद्रोही" घोषित कर दिया गया।

गाँव के सभी लोग डरे हुए थे कि पता नहीं, कब

क्या सजा मिल जाए? जड़ौदा में ही न्यायालय बना दिया गया। एक अंग्रेज न्यायाधीश होकर आया।

अदालत में एक-एक व्यक्ति का बयान लिया गया। लोगों ने देखा कि अब तो प्राण संकट में हैं। किसी भी प्रकार अपनी सुरक्षा न होते देखकर, सभी ने महाराज जी का ही नाम ले लिया। उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि शेरपुर के झण्डूदत्त जी के कहने पर ही हमने ऐसा किया है। हम लोग उन्हीं के शिष्य हैं और उनका आदेश था कि इस तालाब में शिकार नहीं होना चाहिए। इसलिए हमें ऐसा कदम उठाना पड़ा।

सभी के मुख से इस प्रकार की बात सुनकर न्यायाधीश ने महाराज जी को बुलवा भेजा। थोड़ी ही देर में सिपाहियों और अधिकारियों का जत्था महाराज जी के पास आया। एक अधिकारी ने महाराज जी से कहा—

"आपको न्यायाधीश महोदय ने याद किया है। हम लोग आपको ले जाने के लिये आए हैं।"

महाराज जी ने अपने सद्गुरु का ध्यान करते हुए पाँच फूल ले लिये और उनके साथ चल पड़े। जिस कोठी को न्यायालय का रूप बना दिया गया था, उसमें जब वे गये तो चारों ओर भीड़ ही भीड़ दिखायी पड़ी। न्यायाधीश ने महाराज जी को सबका मुखिया समझकर उनकी ओर ध्यान से देखा।

महाराज जी ने उस न्यायाधीश को प्रणाम किया तथा भेंट में उन फूलों को मेज पर रख दिया। न्यायाधीश ने डण्डे से उन फूलों को नीचे गिरा दिया और बोला – "Do not make me fool. मैं आपके इन फूलों से खुश नहीं हूँ। सभी लोगों का कहना है कि झगड़े की जड़ आप हैं। आपने ही शिकार न करने का बोर्ड लगवाया है

तथा आपके ही कारण यह विवाद खड़ा हुआ है। अब आपको जो कुछ भी कहना हो, वह कहिए।"

न्यायाधीश का कथन स्पष्ट था। लोगों ने अपने बचाव के लिये सारा दोष महाराज जी के ऊपर थोप दिया था। महाराज जी ने न्यायाधीश को सम्बोधित करते हुए कहा— "साहब! हम भी सबसे बड़े साहब (परमात्मा) के नौकर हैं। हमारे पास भी कुछ अधिकार हैं। आप अपनों (अंग्रेजों) की रक्षा करते हैं और हम अपने भक्तों की रक्षा करते हैं। आप अपनी भूमिका निभाते हैं और हम अपनी। न तो आपने कुछ देखा कि यहाँ सब कैसे हुआ और न मैंने देखा। हमने तो आपके शिकारियों को केवल डाँटा ही है, लेकिन आपके लोगों ने मेरे कितने ही मासूम पक्षियों को मार डाला है। आप मुझे जेल भिजवाने का भय क्यों दिखा रहे हैं? जैसे मैं यहाँ पर भजन करता

हूँ, वैसे ही जेल में भी कर लूँगा।"

अभी महाराज जी बोल ही रहे थे कि न्यायाधीश ने बीच में ही उन्हें रोककर कहा – "मुझे अधिक समझाने की आवश्यकता नहीं है। यदि कोई तुम्हारी जमानत लेने वाला हो, तो उसे बुलाकर ले आओ।"

"अपनी जमानत के लिये मैं स्वयं हूँ।"

उसी समय जड़ौदा का रहने वाला सूरज भगत आया और बोला – "इनकी जमानत मैं लेता हूँ।"

जमानत हो जाने के पश्चात् मुकदमा चल पड़ा। बहस में बहुत खींचतान होती रही। सभी लोग अपनी – अपनी सुरक्षा के लिए चिन्तित थे। पाण्डव तालाब को तीर्थ के रूप में सिद्ध करने की जिम्मेदारी महाराज जी पर ही थी।



योजनाबद्ध तरीके से भादो मास की अमावस्या को पाण्डव तालाब पर मेले का आयोजन किया गया। शेरपुर की रहने वाली गेंदी देवी ने अपने हाथ में धर्म की ध्वजा ले ली। गाँव से लेकर तालाब तक कीर्तन होता गया। स्नान करने के लिये लोगों की बहुत भीड़ रही। बहुत सी दुकानें भी सजीं।

यह तालाब तीर्थ-स्थान है या नहीं, इसकी जाँच करने के लिये कई अधिकारी भी आये। उन्होंने कई लोगों से पूछताछ की। सभी ने यही बताया कि यह मेला तो प्रतिवर्ष लगा करता है।

इस प्रकार, हर तरह से पाण्डव तालाब तीर्थ के रूप में सिद्ध हो गया। मुकदमे में निर्णय के अनुसार बारह व्यक्तियों को छः-छः मास की सजा तथा पचास-पचास रुपये का जुर्माना, और दो व्यक्तियों को साल-साल भर

की सजा और सौ-सौ रुपये का जुर्माना था। महाराज जी सहित अन्य लोगों को बरी कर दिया गया। न्यायालय के निर्णय के अनुसार, पाण्डव तालाब को हमेशा के लिये तीर्थ मान लिया गया। इस मुकदमे की प्रसिद्धि चारों ओर फैल गयी। कमिश्नर को भी इस चमत्कारिक निर्णय की प्रशंसा करनी पड़ी।

महाराज जी ने पटवारी से कहा— "आपने चमत्कार तो देख लिया न। यह आपके हिस्से में था, किन्तु गाँव के घर-घर में चला गया।"

यह सुनकर पटवारी ने महाराज जी के चरण पकड़कर कहा— "महाराज जी! हमें क्षमा कर दीजिए। हमारी बुद्धि ने आपकी थोड़ी भी पहचान नहीं की।"



## (२३)

महाराज जी वि.सं. १९९५ के लगभग सोनगीर पहुँचे। मन में उमंग लेकर गये थे, अपने प्यारे सद्गुरु के दीदार को।

सद्गुरु से मिलन हुआ। यद्यपि आन्तरिक रूप से वे एक पल भी उनसे दूर नहीं रहे, किन्तु बाह्य मिलन का भी महत्व होता है। चलते समय सद्गुरु महाराज ने उन्हें श्री कुलजम स्वरूप के रूप में ब्रह्मवाणी दी।

श्रीमुखवाणी को पूर्ण ब्रह्म का वाङ्मय कलेवर मानकर महाराज जी ने अपने सिर पर रखा और पैदल ही चल पड़े शेरपुर की तरफ। लगभग १००० कि.मी. से भी अधिक की दूरी पैदल ही तय करनी थी। लेकिन मन में अदम्य उत्साह था कि मैं अक्षरातीत की वाणी को लेकर

जा रहा हूँ।

मार्ग में शौच आदि से पूर्व वे ब्रह्मवाणी को किसी पवित्र स्थान पर रख देते, तत्पश्चात् स्नान करके ही उसे छूते। लघुशंका के पश्चात् भी अच्छी तरह से हाथ-पैर धोकर ही उसका स्पर्श करते।

चलते-चलते कई हफ्ते व्यतीत हो गये। अन्त में महाराज जी शेरपुर पहुँचे। उनके वहाँ पहुँचते ही गाँव वालों की भीड़ एकत्रित हो गई। उन्होंने गाँव वालों को सम्बोधित करते हुए कहा— "भाई! मैं तुम लोगों के लिये परमात्मा का ही स्वरूप लेकर आया हूँ। यह ब्रह्मवाणी है। इसकी सेवा-पूजा करनी होगी।"

महापुरुष अपने आचरण के द्वारा ही संसार के सामने आदर्श प्रस्तुत करते हैं। महाराज जी ने ब्रह्मवाणी

को सिर पर रखते हुए पैदल चलकर यह सन्देश दिया है कि वाणी का सम्मान किये बिना आत्मा की जाग्रति सम्भव नहीं है।

महाराज जी के आदेश पर कुछ ही दिनों में मन्दिर के रूप में एक झोंपड़ी बना दी गयी। उसमें ब्रह्मवाणी को पधराकर वस्त्रों, मुकुट, एवं हारों से सजाया गया। बगल में सद्गुरु महाराज श्री राज नारायण दास जी का फोटो भी पधराया गया।

उस फूस के बने मन्दिर में ही श्री जी की अपार मेहर बरसती रही। वहाँ आने वाले भक्तजनों को आत्मिक प्रेम का अनोखा आनन्द मिलता।

शाम के समय जब सन्ध्या आरती होती, तो गाँव के छोटे-बड़े बहुत से लोग आते। गँगाराम, विश्वम्भर, और

बारू तीनों ही बहुत श्रद्धा भाव से आते। बारू विश्वम्भर का मित्र था। उसकी उम्र अभी किशोरावस्था की ही थी। वह प्रेम में बँधकर नियमपूर्वक आने लगा।

एक दिन सभी ने मिलकर सोचा कि क्यों न कोठा ही बनाकर सेवा पधरायी जाये? इस सम्बन्ध में सबकी सहमति हो गयी। तत्पश्चात् कोठा बनाकर ब्रह्मवाणी की सेवा पधरायी गयी। उसी में भजन-कीर्तन भी होने लगा।

वि.सं. १९९८ (सन् १९४२) में महाराज जी पाक पत्तन (वर्तमान पाकिस्तान) गये। वहाँ उन्होंने सब सुन्दरसाथ से कहा कि भाई! यहाँ रहना ठीक नहीं है। आप सभी लोग मेरे पास चलिए। लेकिन किसी ने भी उनकी बातों पर ध्यान नहीं दिया। यही बात उन्होंने मोण्टगुमरी (वर्तमान पाकिस्तान) आदि कई स्थानों पर भी कही। उस समय कोई सोच भी नहीं सकता था कि

देश का विभाजन होगा। इस घटना के पाँच वर्ष बाद जब विभाजन की काली रेखा खिंच गयी और सभी सुन्दरसाथ दुःखों की अग्नि में जलने लगे , तब उन्हें अहसास हुआ कि महाराज जी के कथन का क्या आशय था।

जब महाराज जी सुन्दरसाथ को सावचेत करने के लिये पाक पत्तन गये थे, उस समय वे कस्तूरी लाल सेतिया जी के घर पर ठहरे थे। उस समय कस्तूरी लाल जी की उम्र लगभग २८ वर्ष की थी। महाराज जी के व्यक्तित्व की उन पर ऐसी छाप पड़ी कि वे भक्ति-वैराग्य के रंग में रंगने लगे। फलतः महाराज जी के वापस लौटने के पश्चात् वे भी शेरपुर आ गये।

उधर, पूरे पंजाब में उनकी खोज जारी रही। खोजते-खोजते परमानन्द जी शेरपुर आये। वहाँ दस

दिनों तक रहकर कस्तूरी लाल जी को समझाते रहे, किन्तु उन पर कोई असर नहीं पड़ा। अन्त में जब महाराज जी ने स्वयं अपने श्रीमुख से कहा – "मेरे आदेश से तुम अभी गृहस्थ जीवन में जाओ, क्योंकि तुम्हारे दोनों बच्चे अभी छोटे हैं।" तब कहीं वे घर लौटने के लिये तैयार हुए।

एक बार संयोगवश ऐसी जमात आयी, जिसमें कई पन्थों के साधु-सन्त एवं भक्तजन सम्मिलित थे। ये महात्मागण अपने ज्ञान एवं भक्ति के तेज के कारण सबके लिये सम्मान के पात्र थे।

गाँव के वरिष्ठ लोग मिलकर महाराज जी के पास गये और बोले – "महाराज जी! आज इतने महात्मा आए हैं, भविष्य में भी आयेंगे, इसलिये यहाँ भण्डारे का चलना आवश्यक है।"



"नहीं, बिना भण्डारा चलाये भी तो आगन्तुकों के भोजन की व्यवस्था हो ही जाती है।"

इस बात से गाँव के श्रद्धालुओं में कुछ निराशा सी छा गयी, किन्तु उन्होंने पुनः निवेदन किया— "महाराज जी! यदि आप आज्ञा दीजिए तो हम लोग लंगर चालू कर दें। आपका लंगर चलता रहेगा। आप केवल अपनी कृपा-दृष्टि बनाए रखिये।"

"यदि आप लोगों की ऐसी ही भावना है, तो अच्छे काम में देर नहीं करनी चाहिए।"

महाराज जी की स्वीकृति मिलते ही उस दिन लंगर प्रारम्भ कर दिया गया। अतिथियों सहित सभी लोगों ने प्रेमपूर्वक भोजन ग्रहण किया। उस दिन से ही हमेशा के लिये लंगर की व्यवस्था कर दी गयी।

सन् १९४७ में देश का विभाजन हुआ। लाखों लोगों को पाकिस्तान छोड़कर भारत आने के लिये मजबूर होना पड़ा। उस समय का दृश्य रोंगटे खड़े कर देने वाला था। पहले ही कह दिया गया था कि यदि पाकिस्तान में रहना है, तो धर्म-परिवर्तन करना होगा। यदि नहीं रहना है, तो अपनी सारी सम्पत्ति छोड़कर कहीं भी जा सकते हैं।

इस तुगलकी फुरमान का नतीजा यह निकला कि जो कभी करोड़पति थे, वे आज दो मुट्ठी चने के लिये तरसते रहे। एक गिलास पानी की तलाश में कितनों ने अपने प्राण त्याग दिए। चारों ओर दानवता का नंगा नृत्य हो रहा था। जिधर देखो, उधर खून ही खून। कहीं-कहीं तो अपनी धर्म-रक्षा के लिए कितनी बेटियों को उनके सगे पिता ने ही गला घोंट दिया, तो कहीं पर उन्होंने

स्वयं ही आत्महत्या कर ली।

इन लाखों लोगों में हजारों की संख्या में सुन्दरसाथ भी थे। इनमें से कुछ तो विभिन्न शहरों में रहने लगे, तो कुछ पन्ना, जामनगर आदि पुरियों में।

काफी सुन्दरसाथ शेरपुर पहुँच गया, क्योंकि उन्हें याद था कि महाराज जी पाँच वर्ष पूर्व ही शेरपुर आने के लिये आग्रह कर गये थे।

शेरपुर में भी विचित्र दृश्य था। रहने के लिये कोई भी पक्का कमरा नहीं, कोई भण्डार नहीं, किन्तु कमी किसी भी चीज की नहीं।

महाराज जी का हृदय तो करुणा, प्रेम, सौहार्द, और अपनेपन का सागर था। हजारों सुन्दरसाथ ने शेरपुर के उस बाग को अपना निवास बनाया। वृक्षों की छाया

को ही अपना घर बना लिया। महाराज जी के नेत्रों से छलकने वाला प्रेम उनके जीवन का आधार बन गया।

कितनी चमत्कारपूर्ण लीला थी। कई महीनों तक सुन्दरसाथ शेरपुर में रहे, किन्तु किसी को भी भोजन या वस्त्र की कमी नहीं हुई। कपड़ों और कम्बलों की सेवा करने वाले स्वयंसेवकों को महाराज जी का स्पष्ट आदेश था कि तुम केवल देते जाओ। भण्डार में ताक-झांक न करना कि कितना बचा है? यह भी न सोचना कि आगे क्या होगा? श्री राज जी के भण्डार में कभी भी कमी नहीं आती। महाराज जी का कथन अक्षरशः सत्य हुआ।

कभी-कभी महाराज जी रात्रि को घूमने सुन्दरसाथ के बीच में निकलते। यदि कोई सुन्दरसाथ किसी कारणवश चादर नहीं ले पाया होता था और ठिठुरकर सो रहा होता था, तो महाराज जी चुपचाप उसे अपनी ही

चादर ओढ़ा देते। ऐसा प्रेममयी दृश्य बहुत कम ही देखने को मिलता है।

सभी सुन्दरसाथ ने अपने विवेक-चक्षुओं से यह देख लिया कि इस प्रकार का प्रेम कोई भी सामान्य महात्मा या महन्त नहीं दे सकता। निश्चित ही इस तन के माध्यम से धाम धनी अपनी आत्माओं की जागनी करा रहे हैं।

सद्गुरु महाराज के आशीर्वाद से, बहुत थोड़े ही समय में सुन्दरसाथ अपने पैरों पर खड़े हो गये। अधिकतर तो बड़े-बड़े व्यवसायों का संचालन करने लगे। उनकी महाराज जी पर अटूट श्रद्धा थी। उन्होंने सद्गुरु महाराज की सेवा में अपनी बड़ी-बड़ी आर्थिक सेवा समर्पित की। मुजफ्फरनगर जिले के चन्दसीना ग्राम के बड़े जागीरदार चौधरी घनश्याम सिंह का परिवार भी

तन-मन-धन से समर्पित हो गया। परिणाम यह हुआ कि कुछ ही वर्षों में देखते-देखते पहले वाला बाग, आश्रम के रूप में परिवर्तित हो गया।

सबसे पहले वि.सं. २००० में विशाल मन्दिर बनाया गया, जिसमें श्री जी की वाणी पधरायी गयी। उसके पश्चात् तारतम भवन और अन्य कई कमरे भी बन गये।

महाराज जी तारतम भवन में जिज्ञासुओं को तारतम ज्ञान का अमृत देने लगे। जागनी का एक तेज दौर प्रारम्भ हो गया।

फिसलन भरे चिकने मार्ग पर बड़े से बड़े पहलवान की भी गिर जाने की सम्भावना रहती है। ऐसे ही अध्यात्म मार्ग पर सद्गुरु के निर्देशन और धनी की कृपा

के बिना बड़े से बड़ा व्यक्ति भी फिसलकर खाई में गिर सकता है।

गँगाराम सच्ची भावना और संयम-नियम से मन्दिर में सेवा-पूजा किया करते थे, किन्तु माया के प्रवाह ने उनके विवेक-चक्षुओं पर पर्दा कर दिया।

एक दिन.....। उनके हाथ से सेवा का थाल गिर पड़ा। जब आवाज हुई, तो महाराज जी ने आकर देखा कि भोग तो मिट्टी में पड़ा हुआ है। उनसे यह सहन नहीं हुआ और बोले- "गँगाराम! तुम यही सोचते हो कि यहाँ पर श्री राज जी थोड़े ही हैं? वाणी तो मात्र ग्रन्थ है, उसे खिलाने से क्या लाभ? अच्छा यही होगा कि अब सारा सुन्दरसाथ तुम्हें ही मस्तक नवाया करे?"

यह सुनकर गँगादास का चेहरा पीला पड़ गया।

निश्चित ही सद्गुरु महाराज ने उनके मन की बातें जान ली थीं।

वे चरणों में गिर पड़े और गिड़गिड़ाकर क्षमा माँगने लगे— "महाराज जी! मुझे क्षमा कर दीजिए। अब मैं इस प्रकार की भूल कभी भी नहीं करूँगा।"

इस घटना के पश्चात् निज मन्दिर की सेवा विश्वम्भर को सौंप दी गयी। गंगादास जी केवल ऊपरी सेवा के ही अधिकारी रह गये थे।

बारू की अभी किशोरावस्था थी, किन्तु सेवा और समर्पण की भावना बहुत ऊँची थी। कभी-कभी ही वह घर जाता, अन्यथा आश्रम में ही रह जाता। धीरे-धीरे उसने घर जाना बिल्कुल ही छोड़ दिया।

घर वालों ने देखा कि यह तो बाबा बन जायेगा।



अच्छा यही होगा कि इसे किसी भी तरह घर लाया जाये। इसलिये काफी सोच-विचारकर आश्रम गये और लगे बारू को फटकारने – "तू घर छोड़कर यहाँ क्यों पड़ा रहता है? क्या तुझे अपने भविष्य की चिन्ता नहीं है? चल, अभी यहाँ से।"

पुनः वे लोग महाराज जी से भी कहने लगे – "महाराज जी! आपने ही इसे बहका दिया है, इसी कारण इसने घर आना भी बन्द कर दिया है।"

महाराज जी ने दृढ़तापूर्वक उत्तर दिया – "भाई! तुम लोग मुझे इस प्रकार के झूठे उलाहने क्यों दे रहे हो। क्या किसी ने मुझे इसे बुलाते हुए देखा है? क्या इसे लेने के लिये आज तक कोई गया भी है? इसको यहाँ रहने के लिये कौन कहता है? तुम इसे ले जाओ, मुझे इसकी कोई भी आवश्यकता नहीं है।"

यह सुनकर घर वाले चुप तो हो गये, किन्तु बारू को जबरन हाथ पकड़कर ले गये। घर जाते ही उन्होंने हाथ में घास काटने की दाँती पकड़ा दी और कहा कि पशुओं के लिये चारा काट लाओ।

परिवार के रिश्ते स्वार्थ पर आधारित होते हैं। प्रायः किसी को किसी से सच्चा प्रेम नहीं होता। उन्हें एक-दूसरे के आत्मिक कल्याण की चिन्ता भी नहीं होती, बल्कि वे तो उसे अपने आर्थिक स्रोत का मात्र साधन मानते हैं। प्रतिष्ठा और अपने अहम् की तुष्टि के लिये ही पारिवारिक लोग किसी को भी भक्ति और वैराग्य की राह पर नहीं चलने देते।

बारू घास तो काट रहा था, किन्तु उसका मन आश्रम में महाराज जी के पास था। विरह की पीड़ा वह सहन नहीं कर पाया और बेहोश हो गया। उसका सारा

शरीर ँँठ रहा था, मुँह बन्द था, और आँखें भी बन्द थीं।

घर वाले उसे कन्धे पर उठा लाये और घर लाकर चारपाई पर लिटा दिया। बहुत दवा कराई गयी, किन्तु उसकी आँखें नहीं खुलीं। जब तीन दिन तक यही हाल रहा, तो घरवालों ने आकर महाराज जी से प्रार्थना की— "हे महाराज! बारू को यहाँ से ले जाना हमारी बहुत बड़ी भूल थी। आप हमें क्षमा कर दीजिए। एकमात्र आपकी कृपा से ही वह ठीक हो सकता है, उसे ठीक कर दीजिए।"

यह सुनकर महाराज जी ने गँगाराम के हाथों अगर्बत्ती और चरणामृत भिजवाया। जैसे ही गँगाराम ने उसका मुख खोलकर चरणामृत डाला, आँखें खुल गयीं।

गँगाराम तुरन्त आ गये, किन्तु थोड़ी देर के पश्चात्

बारू को लेकर उसके चाचा भी आ गये और बोले – "महाराज जी! अपने इस शिष्य को अपने पास रखिए, और मेरे से जो भूल हुई उसे क्षमा कर दीजिए।"

महाराज जी ने उत्तर दिया – "जो आश्रम में धनी की सेवा के लिये आता है, उसका स्वागत है, किन्तु जो जाना चाहे, वह जा सकता है। मुझे उसकी चिन्ता नहीं है।"

बारू पुनः अपनी सेवा में लग गया। कभी-कभी घर जरूर चला जाता था, लेकिन महाराज जी के प्रेम रूपी पिंजरे में कैद हो गया था।

एक बार महाराज जी ने श्री राज जी को भोग लगवाने के लिये बहुत स्वादिष्ट हलवा बनवाया। थोड़ी देर के बाद ही महाराज जी ने देखा कि हलवे को निश्चित

जगह से अलग कहीं छिपाकर रखा गया है।

महाराज जी ने अपने मन में यह निश्चित कर लिया कि यह जाँच करनी है कि ऐसा कौन सा व्यक्ति है, जो राज जी को भोग लगाने से पहले ही उसे जूठा करने का दुस्साहस करना चाहता है।

ऐसा सोचकर वे अपने आसन पर आकर बैठ गये। थोड़ी देर के पश्चात् जब सभी लोग चले गये, तो एक व्यक्ति ने एकान्त पाकर हलवे का कौर मुँह में डाल लिया।

किन्तु यह क्या? तुरन्त ही "थू थू" की आवाज आयी, जैसे वह थूक रहा हो। महाराज जी जब उसे देखने के लिये पहुँचे, तो देखा कि यह तो गँगाराम है। उसे सम्बोधित करके महाराज जी बोले— "भाई! क्या

प्रसाद इस तरह से थूका जाता है? यदि इसका एक कण भी धरती पर गिर जाता है, तो उसे उठाकर खाया जाता है। कम्बख्त! जिस प्रसाद के लिये ब्रह्मा जी तरस गये, उसे तुम इस प्रकार से थूक रहे हो।"

महाराज जी को देखकर गँगाराम भय से सफेद पड़ गया। उसके मुख से आवाज भी नहीं निकल पा रही थी।

महाराज जी ने उससे पुनः कहा— "जिस हलवे को तूने थूका है, वह तुम्हें खाना होगा, और जो छिपाकर रखा है, उसे भी खाना पड़ेगा। उधर से कुत्ते को बुलाकर लाओ।"

कुत्ते को बुलाकर जब उसके सामने हलवा डाला गया, तो वह सूँघकर भाग गया। गाय को भी खाने के लिये दिया गया, किन्तु वह भी सूँघ करके पीछे हट गयी।

महाराज जी ने उसे कड़ी फटकार लगायी—  
"गँगाराम! यदि यह हलवा तुम्हारे गले के नीचे चला जाता, तो चोरी करने का परिणाम तुम्हें मालूम हो जाता। आज ही तुम्हें यमराज के दर्शन हो जाते। तुम्हें शर्म नहीं आती कि राज जी के भोग को भी चोरी करके खाने की कोशिश करते हो। तुम्हारा यह पापी पेट आज तक नहीं भरा, यह कोई खाई है या कुँआ। ऐसा करके तुम भवसागर से पार नहीं हो सकते।"

गँगाराम ने जब महाराज जी के चरण पकड़कर क्षमा माँगनी चाही, तो उन्होंने मना कर दिया और बोले—  
"यदि तुम सद्गुरु के चरण पाना चाहते हो, तो पहले अपने पापों का प्रायश्चित्त करो।"

अपनी दुष्टा जिह्वा के वशीभूत होकर उस समय उसने पाप तो कर दिया, किन्तु बाद में अपने पापों को

याद करके काँप उठा। उसने साधना-भक्ति द्वारा अपने पापों को धो डाला। तत्पश्चात् उसके ज्ञान-चक्षु खुल गये।

सभी रसों का उद्भव करने वाली जिह्वा (रसना) ही है। यदि मनुष्य अपनी जिह्वा को वश में कर ले, तो मन एवं सभी इन्द्रियों पर स्वतः ही अधिकार हो जाता है। मिर्च, खटाई, तामसिक पदार्थों, एवं मोहन भोग के अधीन रहने वालों को स्वप्न में भी नहीं सोचना चाहिए कि वे अध्यात्म की ऊँची छलाँग लगा सकेंगे या परमहंस अवस्था को प्राप्त कर सकेंगे।

एक बार बारू जब अपने घर गया, तो घर वालों ने उसे बुरी तरह फटकारा और बोले- "तू आश्रम क्यों जाता है? अब तू यदि जायेगा, तो तुम्हारी हड्डियाँ तोड़ देंगे।"



लेकिन जब उन्होंने देखा कि हमारी फटकार का भी इसके ऊपर कोई असर नहीं पड़ा है, तो उन्होंने उसे कमरे में बन्द कर दिया और बाहर से ताला भी लगा दिया।

कमरे में जबरन बन्द कर दिये जाने से बारू को बहुत दुःख हुआ। कुछ समय के बाद वह बेहोश हो गया। शरीर की स्थिति ऐसी हो गयी जैसे नाड़ी बन्द हो गयी हो। खिड़की के बाहर से किसी ने उसकी हालत देखकर सबको बताया। जब दरवाजे को खोला गया, तो बारू को बेहोश पाया गया। उसे जोर-जोर से हिलाकर आवाजें लगायी गयीं, लेकिन होश नहीं आया। नाड़ी का भी पता नहीं चल पाया।

सभी ने आपस में यही विचारा कि इसे आश्रम में ही छोड़ दिया जाये। इसका रोग अपने से ठीक होने वाला

नहीं है। मरणासन्न अवस्था में वे आश्रम में छोड़कर चले गये।

सभी सुन्दरसाथ बारू को उठाकर महाराज जी के चरणों में लेकर आये। चरणामृत लेते ही बारू को होश आ गया और वह बातें करने लगा।

यही किशोर उस दिन से युगल दास जी के नाम से जाना जाने लगा। युगल दास जी ने अपना सम्पूर्ण जीवन अपने सद्गुरु की सेवा में समर्पित कर दिया।



(२४)

बाह्य चक्षुओं और लौकिक बुद्धि से किसी के स्वरूप की पहचान करना असम्भव है। परब्रह्म की कृपा से जब तक आत्मिक नेत्र नहीं खुलते, तब तक न तो स्वयं को जाना जा सकता है, न परब्रह्म को, और न किसी परमहंस को।

एक बार महाराज जी कहीं बाहर गये हुए थे। घिसरपड़ी के रहने वाले सुन्दरलाल ने भरतसिंह के सामने यह शर्त रख दी— "यदि तुम आज मुझे महाराज जी के दर्शन करा दोगे, तो मैं समझूँगा कि महाराज जी पूर्ण सद्गुरु हैं अन्यथा नहीं। दर्शन न होने की स्थिति में मैं यही मानूँगा कि महाराज जी के बारे में चमत्कारिक लीलायें केवल गढ़ ली गयी हैं, जो सत्य नहीं हैं।"

भरतसिंह ने उत्तर दिया— "भाई! यदि ऐसी बात है, तो निश्चित ही दर्शन होंगे। वे पूर्ण सद्गुरु हैं। यदि तुम श्रद्धापूर्वक अपने दिल में उनका ध्यान करोगे, तो निश्चित ही तुम उनके दर्शन पाओगे।"

भरतसिंह जोश में कह तो गये थे, लेकिन उनके मन में भी घबराहट थी कि यदि दर्शन नहीं हुए तो वे क्या मुख दिखायेंगे? उन्हें भी मालूम था कि महाराज जी कहीं बाहर गये हुए हैं। पूर्व कार्यक्रम के अनुसार उनका लौट आना सम्भव नहीं लगता था।

अब तो भरतसिंह अपने मन में सद्गुरु का जप करने लगे। उनके मन में भय और घबराहट बढ़ती जा रही थी। मन ही मन वे "दर्शन दो.....दर्शन दो" की रट लगाते जा रहे थे और आँखों से आँसुओं की झड़ी लगी हुई थी।

उधर, सुन्दरलाल ने देखा कि महाराज जी तो बाहर गये हैं, तो वह निश्चिन्त हो उठा कि अब तो वे किसी भी स्थिति में नहीं आ सकेंगे। अपनी विजय के उन्माद में वह बहुत कुछ जलाने वाली बातें सुनाने लगा, किन्तु भरतसिंह क्या करते, चुपचाप सुनने के लिये मजबूर थे।

भरतसिंह ने अन्तरात्मा से प्रार्थना की— "हे सद्गुरु महाराज! आ जाइए, दर्शन दीजिए, दर्शन दीजिए। यदि आपने मेरी पुकार नहीं सुनी, तो मुझे नीचा देखना पड़ेगा। मैं सुन्दरलाल के सामने मुख दिखाने योग्य नहीं रहूँगा।"

समय तेजी से बीता जा रहा था। भरतसिंह ने समय काटने के लिये शौच का बहाना बनाया और सुन्दरलाल को थोड़ी देर प्रतीक्षा करने के लिये कह दिया।

भरतसिंह शौच के बहाने वहाँ पर बैठ गये, जहाँ से वह मार्ग दिखता था। सद्गुरु महाराज वहीं से गुजरा करते थे। वह टकटकी लगाकर देखने लगे। इतने में सद्गुरु महाराज जाते हुए दीख पड़े।

अब तो भरतसिंह को कहाँ बैठना था? वे जल्दी से उठे, ताकि स्वच्छ होकर सद्गुरु महाराज के दर्शन कर सकूँ।

जैसे ही वे सुन्दरलाल के पास पहुँचे, सुन्दरलाल ने कहा— "भाई! अब मैं घर जाना चाहता हूँ। यदि दर्शन होना होता, तो अब तक हो गया होता।"

भरतसिंह ने मन ही मन हँसते हुए उत्तर दिया— "भाई! अब आप ही बताओ। मेरे बस में क्या है? आना तो उन्हें ही है। मैं अपनी बात हारने के लिये लज्जित हूँ।

अब आप शौक से जा सकते हैं। मैंने तो बहुत कठिनाई से उन्हें समझा है। अब आप भी उनको समझ जाओगे।"

जैसे ही सुन्दरलाल घर से बाहर निकलने के लिये दरवाजे की ओर बढ़े, सामने सद्गुरु महाराज को देखकर ठिठक गये। महाराज जी तुरन्त बोल पड़े— "क्या बात है भाई सुन्दरलाल? आपका हाल तो ठीक है न। आपने कैसे मुझे याद किया?"

यह सुनते ही सुन्दरलाल अत्यधिक लज्जित होकर महाराज जी के चरणों में गिर पड़े। उनके मुख से कोई भी शब्द निकल नहीं सका। उनका अहंकार समाप्त हो गया और उन्होंने महाराज जी की कृपा और लीला का प्रत्यक्ष अनुभव किया।

जैसे-जैसे जागनी कार्य में वृद्धि होती गयी, बाहर से

आने वाले सुन्दरसाथ की संख्या भी बढ़ती गयी।  
महाराज जी के प्रेम से हर कोई खिंचा चला आ रहा था।

एक दिन कुछ सुन्दरसाथ आये। उन्होंने महाराज जी को देखा तो नहीं था, महिमा अवश्य सुनी थी। महाराज जी के दर्शन के लिये उनका हृदय तड़प उठा था और वे चल पड़े थे।

उन सुन्दरसाथ को महाराज जी आश्रम से कुछ दूर पहले ही मिल गये थे। महाराज जी ने उनका सामान भी उठा लिया और चल पड़े।

आश्रम में सुन्दरसाथ को युगलदास जी मिले। अभिवादन के पश्चात् उन्होंने पूछा कि महाराज जी कहाँ हैं? युगलदास जी ने कहा कि महाराज जी को तो आपने अपना सामान ढोने के लिये दे रखा है।



अब तो सुन्दरसाथ शर्म और पश्चाताप से फूट-फूटकर रो पड़े। वे सपने में भी नहीं सोच सकते थे कि जिनके दर्शन के लिये हम इतनी दूर से आये हैं, वे ही हमारा सामान उठायेंगे, बिना किसी झिझक के।

विनम्रता का स्तर ही महानता के स्तर को दर्शाता है। योगिराज श्री कृष्ण का याज्ञिक ब्राह्मणों के चरण धोना, जूठे पत्तल उठाना, तथा अर्जुन के रथ को हाँकना, और ईसा का कोढ़ियों के घाव धोना, और बुद्ध का मल-मूत्र से सने हुए अपने वृद्ध शिष्य को नहलाना यही सिद्ध करता है कि इन महापुरुषों में विनम्रता का गुण अपने चरम पर था। जुलूस में आगे चलने, पहले स्नान करने, एवं बैठने हेतु उच्च आसन के लिये विवाद खड़े करने वाले काषाय वस्त्रधारी विरक्तों को यह आत्म-मन्थन करना चाहिए कि वे किस दिशा में जा रहे हैं।

सद्गुरु महाराज श्री राज नारायण दास जी के धामगमन का समय नजदीक था। उन्होंने बार-बार महाराज जी को याद किया, किन्तु परिवार या किसी भी अन्य सांसारिक सम्बन्धी से मिलने की कोई इच्छा नहीं प्रकट की।

सूचना पाकर महाराज जी सोनगीर पहुँचे। महाराज जी को आया हुआ देखकर नारायण दास जी बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने जागनी के सम्बन्ध में कुछ निर्देश देकर प्रसन्नतापूर्वक वि.सं. १९९६ वैशाख सुदी अष्टमी दिन मंगलवार को अपनी लीला छिपा ली।

सद्गुरु का बिछोह बहुत कष्टकारी होता है, किन्तु जागनी के लिये उनके आदेश को शिरोधार्य करके महाराज जी ने सब कुछ सहन कर लिया। महाराज जी के निकटवर्ती सुन्दरसाथ ने महाराज जी के प्रति

नारायण दास जी के समान ही श्रद्धा भावना रखी, क्योंकि उन्हें विदित था कि सद्गुरु महाराज उसी तन से लीला कर रहे हैं।

वि.सं. २०१० (सन् १९५४) में एक विचित्र घटना हुई। अबोहर निवासी अमर लाल सेठी जी की बुआ श्रीमती विद्यावन्ती देवी सहारनपुर में रहा करती थीं। परमहंस महाराज श्री राम रतन दास जी पर उनकी बहुत श्रद्धा थी।

उनकी तीसरी पुत्री जब चार साल की थी, तो उसकी पीठ में कुबड़ापन आ गया। डाक्टरों ने उसकी पीठ पर प्लास्टर चढ़ा दिया। वह हमेशा कठोर तख्त पर लेटी रहती थी। कुछ समय के पश्चात् उसका प्लास्टर भी काट दिया गया, किन्तु उसके कुबड़ेपन में कोई सुधार नहीं हुआ।

उस समय महाराज जी सहारनपुर के मटिया महल नामक मुहल्ले में अवन्तीबाई के घर आया करते थे। अवन्ती बाई ने घर पर ही सेवा-पूजा पधरा रखी थी।

एक दिन जब महाराज जी अवन्ती बाई के घर पर आये हुए थे, विद्यावन्ती देवी उनके पास गयीं और चरणों में प्रणाम करके बोलीं- "महाराज! इस लड़की को या तो ठीक कर दीजिए या इस दुनिया से विदा कर दीजिए। इसका दुःख मेरे से नहीं देखा जाता।"

दया के सागर महाराज जी ने मुस्कराते हुए उस बच्ची को पुकारा- "कुब्जा! इधर आ।"

जैसे ही वह बच्ची पास आयी, महाराज जी ने उसकी पीठ पर प्यार से एक हल्की सी थपकी लगा दी।

वह थपकी कोई सामान्य थपकी नहीं थी। उस

थपकी में ही तो संसार की समस्त औषधियों का सार समाया था। महाराज जी के हस्तकमल का स्पर्श पाते ही वह उसी क्षण बिल्कुल स्वस्थ हो गयी, जैसे कुछ था ही नहीं।

इस अलौकिक चमत्कार को देखकर विद्यावन्ती जी रो पड़ीं। उन्होंने स्पष्ट कह दिया – "मैंने श्री प्राणनाथ जी को देखा तो नहीं है, लेकिन मुझे ऐसा आभास होता है कि स्वयं श्री प्राणनाथ जी सद्गुरु महाराज के अन्दर विराजे हैं।" उन्होंने अपनी पुत्री का नाम भी ब्रजबाला ही रखा।

ब्रज में कुब्जा का टेढ़ापन श्री कृष्ण जी ने अपने स्पर्श मात्र से दूर किया था। जागनी ब्रह्माण्ड में पाँचवें दिन की लीला में श्री प्राणनाथ जी ने पानी के छींटों से ललिता का टेढ़ापन दूर किया, और अब छठें दिन की

लीला में परमहंस महाराज श्री राम रतन जी ने वही कार्य अपने हाथ की थपकी से किया।

एक बार महाराज जी मुजाहिदपुर में झोपड़ी में बैठे हुए चिन्तन में लीन थे। पास के गाँव राणधना के रहने वाले चमेलसिंह अपने कुछ साथियों के साथ वहाँ आये।

दोपहरी का समय था, इसलिये स्वयं श्री महाराज जी ने उन्हें जल पिलाया। कुछ समय के पश्चात् उनमें वार्ता होने लगी। महाराज जी ने अपनी दिव्य दृष्टि से देख लिया था कि चमेलसिंह के अन्दर परमधाम की आत्मा विराजमान है। इसलिये उन्होंने बड़े प्यार से चमेलसिंह के साथ सत्संग किया।

चमेलसिंह आर्य समाज की मान्यताओं के साथ बहुत दृढ़ता से जुड़े हुए थे। सत्संग में बातों ही बातों में

उनसे पूछ लिया- "आप परमात्मा का साक्षात्कार करने के लिये क्या करते हैं?"

"सन्ध्या करता हूँ।"

"सन्ध्या में कौन-कौन से मन्त्रों का पाठ करते हैं?"

"ऋतं च सत्यं च.....से लेकर गायत्री मन्त्र आदि का पाठ करता हूँ और ध्यान करता हूँ।"

"क्या आपने कभी विचारा है कि ऋत और सत्य क्या है?"

"ऋत का अर्थ है निरपेक्ष सत्य , जिसकी प्रामाणिकता के लिये अन्य किसी भी प्रमाण की आवश्यकता न पड़े अर्थात् परम सत्य, और सत्य वह है जो हमेशा एक समान रहे।"

"आप जिसको सत्य और परम सत्य कहते हैं, उसी को मैं अक्षर और अक्षरातीत कहता हूँ।"

इस प्रकार की विवेचना से चमेलसिंह बहुत प्रभावित हुए। उस दिन तो वे अपने घर राणधना चले गये, किन्तु अगले दिन घर पर नहीं रह सके। वे खिंचे हुए महाराज जी के पास आये। कई दिनों के सत्संग के पश्चात् क्षर, अक्षर, और अक्षरातीत के सारे रहस्यों से वे परिचित हो गये। अन्ततोगत्वा महाराज जी से उन्होंने तारतम ज्ञान ग्रहण किया।

तारतम ग्रहण करने के पश्चात् चमेलसिंह की अन्तर्मुखता बढ़ती गयी। वे दिन-रात परमधाम के ही ध्यान में रहने लगे। संसार उनको निःसार लगने लगा। महाराज जी उनसे जागनी कार्य की सेवा लेना चाहते थे, लेकिन उनकी इस क्षेत्र में कोई रुचि थी ही नहीं।



चमेलसिंह के अन्दर परमधाम के दर्शन के लिये इतनी तड़प पैदा हो गयी कि वे दिन-रात ध्यान में ही रहने लगे। अन्त में उनकी इच्छा पूरी करने के लिये महाराज जी ने उन्हें सन् १९५६ ईस्वी में युगल स्वरूप सहित परमधाम का साक्षात्कार कराया। परमधाम के दर्शन होने के कुछ ही दिनों बाद चमेलसिंह ने अपने नश्वर तन का परित्याग कर दिया। उन्हें व्यक्तिगत रूप से इस संसार में रहने में कोई रुचि ही नहीं रह गयी थी।

महान विभूतियों के साथ लोगों की भीड़ तो जल्दी ही इकट्ठी हो जाती है, किन्तु चमेलसिंह जैसे कुछ विरले ही होते हैं जो ज्ञान का प्रकाश पाते ही प्रेम में डुबकी लगाते हैं और परम लक्ष्य को बहुत ही कम समय में प्राप्त कर लेते हैं।



(२५)

प्रेम ही जीवन का सार है। प्रेम-भक्ति से रहित जीवन निरर्थक है। सम्मान की चिन्ता करने वाला प्रेम से दूर ही रहता है।

महाराज जी शरद पूर्णिमा के अवसर पर पन्ना जी में होने वाले वार्षिकोत्सव में अवश्य भाग लेते थे। उनकी यह मान्यता थी कि श्री प्राणनाथ जी का यह दरबार इस संसार में परमधाम का आनन्द दिलाने वाला है।

एक बार गुम्मट जी में झीलना हो रहा था। हर सुन्दरसाथ झीलने का जल पा लेना चाहता था। कुछ जल नीचे बह रहा था। महाराज जी को प्रेम का ऐसा रंग चढ़ा कि वे झीलने के बहने वाले जल में ही बच्चों की तरह लोट-पोट हो गये। उपस्थित सुन्दरसाथ यह देखकर दंग

रह गये।

महाराज जी पन्ना जी में लाल चन्द जी के यहाँ ठहरा करते थे। सन् १९५६ ई. से पहले पन्ना जी में लँगर की कोई व्यवस्था नहीं थी। लँगर की व्यवस्था न होने के कारण सबको अपना-अपना भोजन अलग बनाना पड़ता था, जिसमें अनमोल समय नष्ट हो जाया करता था। महाराज जी ने सबसे विचार-विमर्श करके लँगर चालू करवाया, जिसमें गरीब से गरीब सुन्दरसाथ भी सरलता से भोजन पा सकें और अपने कीमती समय से अन्य कार्यक्रमों का लाभ ले सकें। सन् १९५६ में विजयदशमी के दिन से शुरू हुआ लँगर आज भी अबाध गति से प्रतिवर्ष चल रहा है।

शरद पूर्णिमा महोत्सव की त्रयोदशी का दिन था। पद्मावती पुरी धाम के सुप्रसिद्ध विद्वान श्री किसुनदास

अपने पोते बाबू लाल जी के साथ खीजड़ा मन्दिर की ओर जा रहे थे। रास्ते में महाराज जी मिल गये। महाराज जी ने श्री किसुनदास जी को प्रणाम किया— "प्रणाम जी, महाराज जी!"

"प्रणाम जी, चलिये महाराज! खीजड़ा मन्दिर।"

"हाँ, हाँ, अवश्य। चलिये, मैं आ रहा हूँ।"

किसुनदास जी अपने पोते के साथ आगे चल दिए। दोनों ही तेज गति से चले जा रहे थे। रास्ते में श्री किसुनदास जी अपने पोते बाबूलाल जी को समझा रहे थे— "बेटे! ये जो महाराज रास्ते में मिले थे, तुम इन्हें साधारण आदमी न समझना। हम लोग इनसे बहुत पहले चले हैं, किन्तु देखना, ये वहाँ पहले से पहुँचे हुए मिलेंगे।"

दोनों जब वहाँ पहुँचे, तो वही हुआ जो श्री किसुनदास जी महाराज ने कह रखा था। परमहंस महाराज दोनों को वहीं बैठे हुए दिखायी दिए। बाबूलाल जी यह देखकर दंग रह गये, लेकिन छोटी आयु होने के कारण पूर्व पहुँचने के रहस्य से अनभिज्ञ रह गये।

देश के विभाजन के पश्चात्, पाकिस्तान से भारत आने वाले सुन्दरसाथ में कुछ ऐसे युवा थे जिन्होंने महाराज जी को अपने जीवन का सर्वस्व मान लिया था। इनमें प्रमुख थे – सर्वश्री जगदीश चन्द्र जी आहूजा, प्रकाश जी, मेहर चन्द गिरधर, चन्द्र प्रकाश भगत, राम गोपाल ग्रोवर, जय चन्द्र गिरधर, हरीचन्द्र गिरधर, राज कृष्ण ग्रोवर, शीतल प्रकाश, और चमन लाल सिडाना आदि।

इस युवा वर्ग की सेवा भी विचित्र थी। शेरपुर में होने

वाले भण्डारे की तैयारी में यह युवा वर्ग अपने हाथों में फावड़े और सिर पर टोकरे उठाकर पूरा दिन शारीरिक श्रम करता था, तो रात को अपने सद्गुरु महाराज को रिझाने के लिये भजनों से समां बाँध देता था। महाराज जी बीच में बैठकर सबको अपना दुलार बाँटते थे। रात्रि का यह कार्यक्रम "दीवानों की महफिल" के नाम से जाना जाता था।

जगदीश जी तो अपनी सेवा में इतना तन्मय हो जाते थे कि उन्हें खाने-पीने तक की भी सुध नहीं रहती। कभी-कभी तो खाने के लिये महाराज जी को स्वयं कहना पड़ता।

एक बार जगदीश जी ने बहुत लम्बे समय तक भोजन नहीं किया। जगदीश जी के तेज तर्रार स्वभाव के कारण सुन्दरसाथ उनसे भोजन के लिये कह नहीं पाता

था। अन्त में उन्होंने महाराज जी से कहा कि वे ही जगदीश जी को खाने का आदेश देवें।

महाराज जी ने जगदीश जी को बुलवाया और बोले— "भाई जगदीश! तुम भोजन क्यों नहीं कर लेते?"

अब तो जगदीश जी भोजन करने बैठ गये। यह क्या....? रोटि पर रोटि आती गयी और जगदीश जी खाते गये। धीरे-धीरे वे रसोईघर का बचा हुआ सारा भोजन खा गये। दो आदमी बनाने के लिये बैठे, लेकिन वे भी परेशान से हो गये। अन्त में वे लोग महाराज जी के पास गये और बोले— "महाराज जी! अब आप ही कुछ कर सकते हैं। जगदीश जी तो सारा का सारा भोजन ही खाते जा रहे हैं।"

महाराज जी ने भोजन मँगवाकर अपने मुँह में एक

छोटा सा कौर डाला। महाराज जी के खाते ही जगदीश जी का पेट भर गया। उन्होंने डकार ली और बोले कि अब मेरा पेट भर गया। मुझे अब भोजन की आवश्यकता नहीं है।

महाराज जी द्वारा की हुई यह विचित्र लीला महाभारतकालीन उस घटना से मिलती-जुलती है, जिसमें श्री कृष्ण जी द्वारा एक अन्न का दाना खा लेने से दुर्वासा जी तथा उनके दस हजार शिष्यों का पेट भर गया था।

महाराज जी ने उन सुन्दरसाथ को बुलाया और बोले— "भाई! जगदीश तो मेरा लोहे का घोड़ा है। वह क्या खाता है, इसकी चिन्ता तुम्हें नहीं बल्कि उसको करनी पड़ती है जिसकी वह सेवा करता है। तुम लोग बीच में हस्तक्षेप मत किया करो।"



उस दिन से सुन्दरसाथ ने जगदीश जी के भोजन के बारे में कभी भी कोई बात नहीं चलायी।

जगदीश जी दिन भर फावड़ा चलाते, जिससे उनके पैरों में जख्म बन जाते। रात को उन जख्म भरे पैरों में औषधि बाँध लेते तथा सवेरे पुनः सेवा में लग जाते। इस प्रकार उन्होंने अपने जीवन को ही सेवामय बना लिया।

एक बार महाराज जी ने जगदीश जी को किसी अति आवश्यक कार्यवश इलाहाबाद भेजा। जगदीश जी को ट्रेन में चढ़ाने के लिये चन्द्र प्रकाश भगत भी आये। जगदीश चन्द्र जी ने चन्द्र प्रकाश जी से आग्रह किया कि वे अपने कार्यालय में छुट्टी के लिये आवेदन पत्र नहीं दे पाये थे, इसलिये वे अवश्य ही इस आवेदन पत्र को कार्यालय तक पहुँचा दें। यह कहकर उन्होंने चन्द्र प्रकाश जी को अपना आवेदन पत्र दे दिया।

किन्तु कुछ कारणवश चन्द्रप्रकाश जी उस प्रार्थना पत्र को कार्यालय में जमा नहीं कर सके। जब जगदीश जी वापस आये, तो सीधे ही अपने कार्यालय में पहुँचे। वहाँ अपने सहकर्मियों से जब उन्होंने अपने आवेदन पत्र पहुँचने की बात पूछी, तो सबने हँसते हुए उत्तर दिया— "भाई जगदीश! यह तुम क्या मजाक कर रहे हो? आवेदन की आवश्यकता तो तब थी, जब तुम नहीं आते। यह देखो! उपस्थित-पंजिका में प्रतिदिन के तुम्हारे हस्ताक्षर हैं। तुम तो प्रतिदिन हमारे साथ काम करते थे। फिर कैसे तुम्हें मजाक करने की सूझ रही है कि घबराते हुए यह पूछ रहे हो कि मेरा आवेदन पत्र पहुँचा था या नहीं?"

जगदीश जी ने हस्ताक्षर देखा। ये तो हुबहू वही हस्ताक्षर थे, जो वे स्वयं किया करते थे। अपने भावों को

उन्होंने बहुत कठिनाई से सम्भाला और एक कमरे में स्वयं को बन्द करके फूट-फूटकर रो पड़े। सद्गुरु महाराज ने उनका भेष धारण कर कार्यालय में सेवा की है, यह बात उन्हें सहन नहीं हो पा रही थी।

बिलखते हुए उन्होंने प्रण कर लिया कि अपने सद्गुरु के चरणों में वे अपना रोम-रोम न्योछावर कर देंगे।

सन् १९६२ में महाराज जी के साथ जगदीश जी कश्मीर की यात्रा पर गये। साथ में मुरलीदास जी, युगलदास जी, मेहरचन्द, शीतल प्रकाश आदि अनेक सुन्दरसाथ थे। वहाँ एकान्त में जगदीश जी को महाराज जी ने अपनी कृपा से युगल स्वरूप तथा परमधाम के पच्चीस पक्षों का दीदार कराया। उस अलौकिक अनुभूति के पश्चात् जगदीश जी ने महाराज जी के स्वरूप की वास्तविक पहचान की तथा अपने जीव और आत्मा को

उनके प्रति पूर्णतया समर्पित कर दिया।

ब्रह्ममुनि परमहंसों या सद्गुरु के धाम-हृदय में युगल स्वरूप की छवि विराजमान होती है। उनके साथ बीता हुआ एक-एक पल प्रियतम की सान्निध्यता का अहसास कराता है।

महाराज जी ने अपनी मेहर भरी दृष्टि से दिल्ली निवासी श्याम अरोड़ा जी की माता श्रीमती बनारसो बहन जी को भी परमधाम का साक्षात्कार कराया। बनारसो बहन जी में सेवा और श्रद्धा पूरी तरह कूट-कूटकर भरी थी। महाराज जी भी बिना कोई सूचना दिए दिल्ली स्थित उनके निवास पर जाकर उन्हें दर्शन देते थे।

एक बार शेरपुर आश्रम में महाराज जी से बनारसो बहन जी ने कहा- "महाराज जी! सुन्दरसाथ इस संसार

में इतना दुःखी रहता है। आप सबको ही परमधाम का दर्शन क्यों नहीं करा देते?"

"इनमें से कोई भी परमधाम का दर्शन नहीं करना चाहता है। सभी माया का सुख चाहते हैं।"

"बातचीत में तो मुझसे सभी परमधाम के दर्शन की इच्छा व्यक्त करते हैं।"

"यदि ऐसी बात है, तो तुम उन सबको एकत्रित करके ले आओ। उनको पंक्तिबद्ध खड़ा करके एक-एक करके मेरे पास भेजो। उनसे कहना कि आज तुम जो कुछ भी माँगोगे, महाराज जी अवश्य पूरा करेंगे।"

महाराज जी के निर्देशानुसार सुन्दरसाथ की पंक्ति बन गयी। क्रमशः सभी ने आकर अपनी-अपनी इच्छायें व्यक्त करनी प्रारम्भ की।

पहली महिला सुन्दरसाथ ने कहा – "महाराज जी! मेरी बहू हमेशा मुझसे लड़ती रहती है। आप कृपा कीजिए कि वह लड़ना बन्द कर दे, ताकि घर का माहौल ठीक-ठाक रहे।"

"सद्गुरु महाराज की कृपा से सब ठीक हो जायेगा।"

दूसरी बहन ने कहा – "महाराज जी! मेरे बेटे की शादी हुए पाँच वर्ष हो गये हैं। अभी भी मेरी बहू की कोख सूनी है। आप कृपा कर देंगे, तो बच्चे की किलकारी घर में गूँजने लगेगी।"

"सद्गुरु महाराज तुम्हारी इच्छा पूरी करें।"

तीसरा सदस्य भाई था। उसने अपनी माँग रखी – "महाराज जी! पिछले वर्ष दुकान में बहुत घाटा हो गया था। आप कृपा कर दीजिए। कम से कम रोजी-रोटी तो

चलती रहे।"

यह सुनकर महाराज जी हँस पड़े। मुस्कराते हुए उन्होंने कहा— "सद्गुरु महाराज की कृपा से तुम्हारा काम हो जायेगा।"

इसी प्रकार एक-एक करके सभी आते गये। सबने अपनी सांसारिक इच्छायें ही व्यक्त की। जब पूरी पंक्ति खत्म हो गयी, तो महाराज जी ने बनारसो बहन जी को बुलवाकर पूछा— "आज तुमने कितनों को परमधाम का दर्शन करवाया?"

बनारसो बहन जी क्या उत्तर देतीं। उन्होंने हँसते हुए चुपचाप अपना सिर नीचा कर लिया।

खारे जल की मछली को खारा जल ही अच्छा लगता है। वह दूध में रहना कभी भी पसन्द नहीं करेगी।

तारतम लेकर भी जीव सृष्टि मायावी सुखों की ही अधिक चाहना करती है।

शेरपुर आश्रम का वार्षिकोत्सव सद्गुरु श्री राज नारायण महाराज की स्मृति में मनाया जाता है। उसमें सारे देश से सुन्दरसाथ एकत्रित होते हैं। महाराज जी हर महोत्सव में साधु-महात्माओं को वस्त्र और कुछ रुपये भेंट किया करते थे।

एक बार वार्षिकोत्सव में महाराज जी सभी साधु-महात्माओं को विदाई दे रहे थे। उनकी लम्बी पंक्ति लगी हुई थी। अचानक ही उन्हें किसी अति आवश्यक कार्य में लग जाना पड़ा।

महाराज जी ने कानपुर निवासी श्री चमन लाल सलूजा जी को बुलवाया और कहा- "तुम इन सभी



महात्माओं को ग्यारह-ग्यारह रुपये और एक-एक धोती बाँटते जाओ। मुझे कुछ बहुत जरूरी कार्य है।"

सलूजा जी ने जब धोतियों की ओर देखा, तो वे चिंतित से हो गये। उन्होंने आपने मन में सोचा कि लाइन तो इतनी लम्बी है और धोतियाँ कम हैं। यदि बाँटने के समय ही धोतियाँ कम पड़ जायेंगी, तो मैं क्या करूँगा? इससे तो आश्रम की गरिमा ही ध्वस्त हो जायेगी।

किन्तु आदेश तो आदेश था। उन्होंने बाँटना शुरू किया। एक-एक कर साधू अपनी भेंट लेते गये। धीरे-धीरे पूरी पंक्ति को भेंट मिल गयी, किन्तु धोतियाँ और पैसे उतने के उतने ही रहे। अब तो सलूजा जी आश्चर्य में डूब गये। उन्होंने उस दिन पहचाना कि महाराज जी की महिमा क्या है?

एक तरफ महाराज जी ने अध्यात्म की सर्वोच्च ऊँचाइयों को छुआ, तो दूसरी ओर इतनी विनम्रता कि पहचान करने वाले दाँतों तले अँगुली दबा लें। कोई सोच भी नहीं सकता कि इस पृथ्वी पर क्या इतना विनम्र और अहंकार से रहित व्यक्ति भी हो सकता है। वार्षिकोत्सव में जब सब सुन्दरसाथ भोजन कर लेते थे और जूठी पत्तलें फेंक दी जातीं, तो महाराज जी रात के अन्धेरे में छिपकर जाते और प्रसाद रूप में उन पत्तलों के कुछ जूठे दाने अवश्य खाते। ऐसी भी घटना घटी कि कुछ सुन्दरसाथ के चले जाने के बाद, उन्होंने वहाँ के फर्श को धोकर उसका पान किया है।

प्रश्न है कि यह काम कौन करेगा ? जिसके दर्शन मात्र से हृदय तृप्त हो जाये, वह स्वयं इतनी विनम्रता अपने अन्दर समेटे हुए हैं कि जो जूठी पत्तलें गायों, कुत्तों

आदि जानवरों को खाने के लिये फेंक दी जाती हैं, उनमें पड़े हुए दानों को सुन्दरसाथ का प्रसाद समझकर ग्रहण करना बहुत दुष्कर है। ट्रस्टियों की कृपा से महन्त और मठाधिपति बनने वालों के लिये तो यह स्वप्न में भी सम्भव नहीं है। सामान्य साधु-महात्मा तो इसके बारे में सोच भी नहीं सकता।

यह कहावत अक्षरशः सत्य है कि जो जितना महान होता है, उतना ही विनम्र होता है। यदि कोई मनुष्य महाराज जी के आदर्शों को अंश मात्र भी अनुकरण कर ले, तो वह धन्य-धन्य हो जायेगा।

पुलबंगश मन्दिर में महाराज जी पधारे हुए थे। सुन्दरसाथ की बहुत अधिक भीड़ थी। कीर्तन हो रहा था। कीर्तन के बीच में श्री एच. के. एल. भगत जी की पत्नी श्रीमती आशा भगत जी भी पहुँच गयीं और पीछे

बैठ गयीं। वे अपने मन में सोच रही थीं कि कितना अच्छा होता यदि महाराज जी मुझे अपने पास बुलाकर बैठाते और अपने गले का हार मुझे दे देते।

थोड़ी ही देर के पश्चात् विचित्र घटना हुई। महाराज जी ने आशा भगत जी को अपने पास बुलवाया तथा अपने गले का हार पहनाकर स्पष्ट रूप से कह दिया – "मेरे पास बैठो।" अब तो आशा बहन जी मन-ही-मन सोच रही थीं कि महाराज जी कितने अन्तर्यामी और दयालु हैं, जिन्होंने मेरे मन की भावनाओं को तुरन्त ही जान लिया।

सहारनपुर में आर्य समाज के साथ शास्त्रार्थ हुआ। उस शास्त्रार्थ में पण्डित कृष्णदत्त शास्त्री (कानपुर) तथा श्री कृष्णदेव जी महाराज (जयपुर) ने भाग लिया। शास्त्रार्थ में काफी नोक-झोंक हुई। तनाव भी अपने चरम

पर था। महाराज जी शास्त्रार्थ में विद्वानों के साथ स्वयं बैठे थे। उनका वरदहस्त विद्वत मण्डल के साथ था, जिसका परिणाम यह हुआ कि श्री निजानन्द सम्प्रदाय के विद्वानों ने आर्य समाज के शास्त्रार्थ महारथियों से भी शास्त्रार्थ करके विजय प्राप्त की।

सन् १९५८ में जामनगर में महाराज श्री धर्मदास जी के नेतृत्व में एक विशाल कार्यक्रम का आयोजन किया गया था। उसमें सारे देश के सुन्दरसाथ पधारे थे।

उस कार्यक्रम के प्रारम्भ होने की पूर्व सन्ध्या पर महाराज श्री राम रतन दास जी आचार्य श्री धर्मदास जी महाराज जी के कक्ष में उपस्थित थे। कुछ सुन्दरसाथ भी वहाँ बैठे हुए थे। ऐसे समय में सेठ गोवर्धन दास जी भी कक्ष में प्रविष्ट हुए। महाराज जी ने उनसे पूछा – "सेठ जी! क्या भण्डारे की सारी व्यवस्था पूरी हो गयी है?"

"महाराज जी! और सब तो ठीक है, किन्तु कुछ लड्डू कम पड़ेंगे।"

महाराज श्री राम रतन दास जी को सेठ जी की बात पसन्द नहीं आई। उन्होंने कहा— "सेठ जी! श्री राज जी के भण्डार के प्रति कभी भी कमी शब्द का प्रयोग नहीं करना चाहिए। आपको ऐसा कहना चाहिए कि कुछ और लड्डूओं की आवश्यकता है।"

सेठ जी ने अपनी भूल स्वीकार करते हुए क्षमा माँगी। तत्पश्चात् महाराज श्री राम रतन दास जी ने उनसे कहा— "आप मुझे भण्डार घर में चलकर दिखाइये कि कितने लड्डू बने हैं।"

महाराज जी को लेकर सेठ जी भण्डार में गये। वहाँ महाराज जी ने देखा कि कई कमरों में लड्डू और गाठिया

आदि भरी पड़ी है। उसे देखकर महाराज जी ने स्पष्ट रूप से कह दिया— "यही बहुत है, अब और बनवाने की कोई आवश्यकता नहीं है। जब कल आप भोजन प्रारम्भ करवाइएगा, तो मुझे अवश्य बुलवाने का कष्ट कीजिएगा।"

दूसरे दिन भोजन से पूर्व सेठ गोवर्धन दास जी परमहंस महाराज श्री राम रतन दास जी सहित अन्य कई महाराजों को भण्डार में ले गये। वहाँ जाकर महाराज जी ने अगरबत्ती जलाकर तारतम का पाठ किया और भोजन प्रारम्भ करवा दिया। उन्होंने सभी को आश्चस्त कर दिया कि श्री राजश्यामा जी की कृपा से किसी भी वस्तु की कमी नहीं पड़ेगी। बहुत ही विचित्र सा चमत्कार हुआ। महाराज जी का कहा हुआ एक-एक शब्द अक्षरशः सत्य हुआ। साप्ताहिक कार्यक्रम पूरा होने के

पश्चात् भी कई कमरों में लड्डू बचे रह गये , जिसे सब सुन्दरसाथ को घर जाते समय प्रसाद के रूप में वितरित किया गया।

इस प्रकार जो सुन्दरसाथ जामनगर नहीं पहुँच सके थे, उन्होंने भी उस लड्डू का प्रसाद ग्रहण किया। जहाँ लड्डू के कम होने की आशंका जतायी जा रही थी, वहीं आवश्यकता से भी अधिक लड्डू उपलब्ध रहा।

जिस ब्रह्ममुनि सद्गुरु के धाम हृदय में प्रियतम परब्रह्म की शोभा विराज रही हो , उनके निर्देशन या उनकी कृपा की छाँव तले होने वाले किसी भी कार्यक्रम में भला किसी वस्तु की कमी कैसे रह सकती है? कमी तो केवल वहाँ होती है, जहाँ अपने धनबल एवं जनबल का अहंकार होता है।



जिनकी स्नेहमयी गोद में हजारों सुन्दरसाथ ने अपनेपन की शीतल एवं सुगन्धित बयार का अनुभव किया.....

जिनके नेत्रों के सुधा पान से परितृप्त हजारों सुन्दरसाथ आनन्द के सागर में विहार करने लगे.....

जिनके दर्शन मात्र से लाखों जीवों ने स्वयं को कृतकृत्य माना, और उस अनन्त भवसागर को पार कर लिया, जिसमें वे लाखों जन्मों से भटक रहे थे.....

जिनके हृदय-कमल से निकलकर मुखारविन्द से प्रवाहित होने वाली अमृतमयी वाणी शरीर में रोमाञ्च पैदा करती रही.....

जिनकी सान्निध्यता प्रियतम परब्रह्म के आभा-मण्डल की छाया का अहसास कराती रही.....

वे सद्गुरु परमहंस महाराज श्री राम रतन दास जी सन् १९६४ में १२ अक्टूबर को प्रातः ७:३० बजे नई दिल्ली में श्री एच. के. एल. भगत जी के घर पर बाह्य शरीर से अन्तर्धान हो गये।

किन्तु प्रेम से पुकारने वालों के दिल में वे अब भी वैसे ही प्रकट होते हैं, बातें करते हैं, हँसते हैं, और आनन्द के सागर में स्नान कराते हैं। वे किसी भी स्थिति में हमसे अलग नहीं हो सकते।

॥ इति पूर्णम् ॥

अन्धकार में भटकते हुए संसार को,  
परमहंस के रूप में एक पथ-प्रदर्शक चाहिए,  
जिसके हृदय में ज्ञान, वैराग्य, और प्रेम का संगम हो।

जो सबके हृदय को जीत सके,  
सबको परमधाम की राह दिखा सके,  
वही ब्रह्ममुनि है।

आज से लगभग सौ वर्ष पहले,  
उत्तर प्रदेश के सहारनपुर जिले से,  
एक सुन्दर युवक गृह त्यागकर निकल पड़ता है।  
उसके हृदय में विरह की असीम वेदना है।

प्रियतम परब्रह्म को पाने की प्यास में,  
वह गाँव-गाँव, जँगल-जँगल,

भटकता फिर रहा है।

एक ऐसा परमहंस प्रगट होना चाहिए,  
जिसमें ज्ञान के नाम पर शुष्कता न हो,  
भक्ति के नाम पर दिखावा न हो,  
और वैराग्य के नाम पर अहंकार न हो।

एक दिन उसका मिलन होता है,

उस महान सद्गुरु से,

जिनमें परब्रह्म का जोश है।

जिनकी कृपा दृष्टि,

अनायास ही परब्रह्म का साक्षात्कार करा देती है।

अध्यात्म जगत के आकाश में,

पूर्णिमा का चन्द्रमा उदित हो जाता है।

चारों ओर बिखरी हुई,  
चाँदनी की निर्मल छटा,  
सबका मन मोह लेती है।

